श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला २, २/

वर्णी-वाणी

(परिवर्धित व संशोधित द्वितीय संस्करण)

सङ्कलयिता और सम्पादकः—

विद्यार्थी "नरेन्द्र" जैन

धनगुवाँ (छतरपुर)

प्रस्तुतकर्ताः—

श्रीगणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला,

भदैनीघाट, काशी

प्रकाशक —

हिन्दी प्रकाशन भवन,

बाँस-फाटक,

काशी

प्रथम संस्करण १००० वि० सं० २००४

द्वितीय संस्करण १००० वि० सं० २००६

मूल्य ४)

मुद्रकः—

मेवालाल गुप्त

बम्बई प्रिंटिंग काटेज,

बाँस-फाटक,

काशी

समर्पण—

विश्ववन्द्य बापू की पुण्यस्मृति में

उनके प्रतिनिधि एवं पथानुगामी—

विश्व-हृदय सम्राट्, त्यागवीर

श्रीमान पूज्य पं० जवाहरलालजी नेहरू महोदय

(प्रधान मन्त्री—स्वतन्त्र भारत)

के

पुनीत कर कमलों में

श्रद्धावनत—

वि० "नरेन्द्र"

ग्रन्थमाला की ओर से

वर्णीवाणी के प्रथम संस्करण को श्री साहित्य साधना समिति जैन विद्यालय काशी को प्रस्तुत करने का सुअवसर मिला था। यह उसका परिवर्धित और परिवर्तित दूसरा संस्करण है। इसे प्रस्तुत करते हुए श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला गौरव का अनुभव करती है।

यह आवश्यक था कि इसके इस संस्करण को भी प्रस्तुत करने का अवसर उसी संस्था को दिया जाता, किन्तु अधिकतर विद्वानों और समाज की यह राय थी कि वर्णी साहित्य का प्रकाशन वर्णी-ग्रन्थमाला से ही होना चाहिये। उनकी इस इच्छा को ध्यान में रखकर ही वर्णी-ग्रन्थमाला ने इस ओर ध्यान दिया है। मुझे प्रसन्नता है कि इस कार्य में हमें सबका सहयोग मिला है।

प्रथम संस्करण से यह संस्करण बहुत बड़ा है। इसमें कई विषय बढ़ाये गये हैं और अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भी किये गये हैं। पूज्य श्री वर्णीजी महाराज के अनेक लेख और प्रारम्भिक काल में उनके द्वारा लिखे गये अनेक दोहे भी इसमें संग्रहीत हैं। इससे प्रस्तुत संस्करण की उपयोगिता और भी अधिक बढ़ गई है।

पूज्य श्री वर्णीजी महाराज का जीवन बाल्यकाल से ही अलौकिक और शिक्षाप्रद रहा है। उन्होंने अपने जीवन में जो महान् कार्य किये हैं उनकी उपमा जैन समाज में अन्यत्र मिलना कठिन है। उनमें वे सभी गुण विद्यमान हैं जो एक सन्त में होने चाहिये। वे इस युग के प्रवर्तक हैं। जैसे उन्होंने अपनी प्रतिभा, विद्वत्ता, त्याग और साधुवृत्ति द्वारा मार्ग-दर्शन किया है वैसे ही उन्होंने अपनी दिव्य वाणी द्वारा भी संसार

का महान् उपकार किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उनकी इस दिव्य वाणी का ही सङ्कलन किया गया है।

यह सङ्कलन उनकी दैनन्दिनी, उनके द्वारा दूसरों को लिखे गये पत्र और महत्वपूर्ण अनेक लेख एवं सार्वजनिक सभाओं में दिये गये भाषणों के टिप्पण आदि के आधार से किया गया है।

सङ्कलयिता श्री स्याद्वाद जैन विद्यालय के प्रधान स्नातक प्रिय भाई नरेन्द्रकुमारजी जैन है। इसके सङ्कलन व सम्पादन में इन्होंने बड़ा श्रम किया है। अनेक कठिनाइयों को पारकर वे यह स्थिति उत्पन्न कर सके है। इस संस्करण को जब उन्होंने वर्णी-ग्रन्थमाला की ओर से प्रस्तुत करने का आग्रह किया तो मैने सहर्ष स्वीकारता दे दी और आवश्यकता पड़ने पर प्रकरणों को व्यवस्थित करने आदि में भी सहायता की। इसकी भूमिका और पारिभाषिक शब्दकोष भी मैने ही लिखा है।

मेरी इच्छा थी कि इस संस्करण को छपाई आदि की दृष्टि से सर्वाङ्गपूर्ण बनाया जाय, किन्तु सरकार की वर्तमान नीति के कारण मै ऐसा न कर सका। प्रेस आदि की असुविधा तो है ही। फिर भी जो कुछ मैं कर सका हूँ वह पाठको के सामने है। मेरा विश्वास है कि इसके स्वाध्याय से पाठकों के जीवन में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन होंगे, उन्हें जीवन-संशोधन का अवसर मिलेगा।

इस काम में मुझे अनेक सहयोगी मिले है। कुछ वे है जो प्रस्तुत पुस्तक से सम्बन्ध रखते हैं और कुछ वे है जिनका सम्बन्ध वर्णी-ग्रन्थ-माला से है। प्रस्तुत पुस्तक से सम्बन्ध रखनेवालों में प्रिय भाई नरेन्द्रकुमारजी व उन्हें उपयोगी साहित्यिक सामग्री जुटानेवाले प्रिय बन्धु प्रो० खुशालचन्द्रजी एम० ए० व दूसरे बन्धुगण है। कुछ ऐसे भाई भी हैं जिन्होंने प्रथम संस्करण के प्रकाशित करने में सहायता प्रदान की थी। उनमें श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री प्रधान अध्यापक श्री स्याद्वाद

महाविद्यालय काशी, श्रीमान् जैन जातिभूषण सिंघई कुन्दनलालजी सागर व उक्त विद्यालय के प्रधान स्नातक श्री हीरालालजी पाण्डेय, बालचन्द्रजी विशारद, ज्ञानचन्द्रजी आलोक और दरबारीलालजी साहित्यरत्न हैं।

संस्था से सम्बन्ध रखनेवालों में प्रमुखता से श्रीमान् पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री कटनी, पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य प्रोफेसर हिन्दू विश्वविद्यालय काशी, प० पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर, पं० नाथूलालजी शास्त्री संहितासूरि इन्दौर व प० वन्शीधरजी व्याकरणाचार्य बीना का नाम लिया जा सकता है। इस काम में इन महानुभावों की हमें हर तरह से सहायता मिली है, अत. इन सबके हम हृदय से आभारी हैं।

जैसा कि मैं पहले प्रकट कर चुका हूँ कि वर्णी ग्रन्थमाला का उद्देश्य असाम्प्रदायिक है। वह बिना किसी भेदभाव के समान रूप से तत्त्वज्ञान का दिव्य सन्देश घर घर पहुँचाना चाहती है। वह उन समस्त प्रयत्नों का आदर करती है जो आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार के व्यक्ति स्वातन्त्र्य की प्रतिष्ठा द्वारा व्यक्ति को राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और आध्यात्मिक गुलामी से मुक्ति प्रदान करते हैं। वर्णीवाणी का सङ्कलन उन प्रयत्नों में से एक है। यह प्रयत्न इस दिशा में पूर्ण सफलता हासिल करे, ऐसी मेरी कामना है।

श्रुतपञ्चमी वी० स० २४७५
भदैनीघाट, बनारस

फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

"वर्णीवाणी" द्वितीय संस्करण

मे

सङ्कलित सामग्री

१—मेरी जीवन गाथा।

२—पूज्य वर्णीजी द्वारा लिखे गये लेख।

३—वर्णीजी की पाँच वर्ष की दैनन्दिनी (डायरियाँ)।

४—वर्णीजी के २८ वर्ष के प्राचीन लेख।

५—सागर, दमोह, जबलपुर, मुरार, ग्वालियर आदि की शास्त्र-सभा और आम सभाओं में दिये गये भाषणों के संस्मरण जो मैं उस समय स्वयं लिख सका।

६—वर्णीजी द्वारा उनके भक्तों को लिखे गये ७०० पत्र।
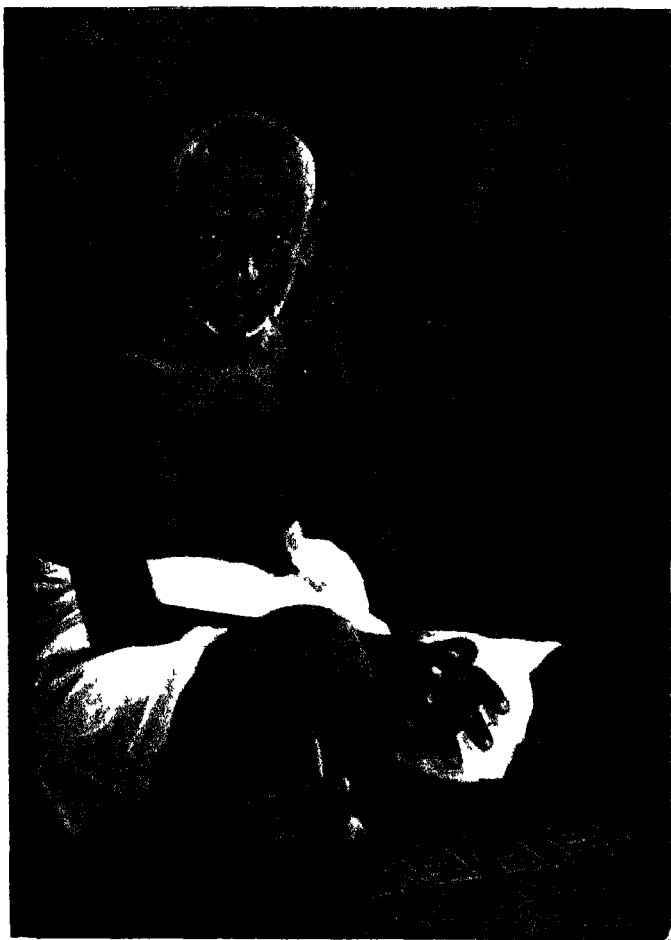
तपोमूर्ति श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी

प्रस्तावना

लोक में अनेक वाद प्रचलित हैं। उन सबको अध्यात्मवाद और भौतिकवाद इन दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक तीसरा वाद और है जिसे ईश्वरवाद के नाम से पुकारते हैं। यद्यपि आज तक की विश्व व्यवस्था का आधार क्रम से ये तीनों वाद रहे हैं तथापि वर्तमान कालीन व्यस्था में अध्यात्मवाद का विशेष स्थान नहीं रहा है। इस समय मुख्यता ईश्वरवाद और भौतिकवाद की है। अध्यात्मवादी तो बिचारे कोने में पड़े हुए हैं। वे स्वयं अध्यात्मवादी हैं इसमें सन्देह होने लगा है। अब लड़ाई शेष दो वादों की है। वर्तमान काल में जो अध्यात्मवाद का प्रतिनिधित्व करते हैं उन्होंने जीवन में ईश्वरवाद की शरण ले ली है। इस या उस नाम से वे ईश्वरवाद का समर्थन करने लगे हैं। इसका कारण है ईश्वरवादियों के द्वारा आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार कर लेना और उनके साहित्य में ईश्वरवाद की छाया का आ जाना।

उपनिषद् काल के पहले ईश्वरवादियों ने आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व पर कभी जोर नहीं दिया था पर इतने से काम चलता न देख उपनिषद् काल में उन्होंने किसी न किसी रूप में आत्मा का अस्तित्व मान लिया है। इससे धीरे धीरे अध्यात्मवादी और भौतिकवादी दोनों गौण पड़ते गये। फिर उनके सामने ऐसा कोई खटका नहीं रहा जिसके लिये उन्हें विशेष प्रयत्न करना पड़ा हो।

किन्तु अब स्थिति बदल रही है और एक बार पुनः भौतिकवाद अपना सिर उठाने के प्रयत्न में है। लड़ाई तगड़ी है। दिखाई तो यही देता है कि अन्त में भौतिकवाद की ही विजय होगी,

क्योंकि ईश्वरवाद की सब बुराइयाँ चौड़े में आ गई हैं और जनता उनसे पिण्ड छुड़ाने के पक्ष में होती जा रही है।

इसका परिणाम क्या होगा यह कह सकना तो कठिन है पर इतना निश्चित है कि रोटी और कपड़े का प्रश्न हल होने पर सम्भवतः मनुष्य का ध्यान पुन अपने जीवन के संशोधन की ओर जाय और तब सम्भव है कि अध्यात्मवाद को अपनी प्राणप्रतिष्ठा करने का अवसर मिले। पर इसके लिये अध्यात्मवादियों को स्वय सजग होने की आवश्यकता है। उन्हें अपनी बुराइयों की ओर देखना होगा। ईश्वरवादियों के सम्पर्क से जो बुराइयाँ उनमें घर कर गई हैं उनका तो उन्हें संशोधन करना ही होगा साथ ही अध्यात्मवाद के उन मूल सिद्धान्तों की ओर भी उन्हें ध्यान देना होगा जिनकी प्राणप्रतिष्ठा किये बिना संसार में चिरस्थायी शान्ति होना असम्भव है।

सुदूर पूर्व काल में इस जगती तल पर संघर्ष का कोई प्रश्न ही नहीं था। तब साधनो की विपुलता के सामने मनुष्यों की संख्या इतनी न्यून थी जिससे उन्हें जीवन में किसी प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता था। उस समय प्रायः सभी प्राकृतिक साधनों पर अवलम्बित रहते थे। प्रकृति से उन्हें इतने विपुल साधन उपलब्ध थे जिनसे उनका अच्छी तरह काम चल जाता था। उन्हें जीवनोपयोगी साधनों को जुटाने के लिये अधिक श्रम नहीं करना पड़ता था। बिना संघर्ष के उनका जीवन यापन हो जाता था। तब उन्हें न तो पर लोक की चिन्ता थी और न इस लोक की। आवश्यकता कम थी और साधन विपुल इसलिये उनका जीवन सुखमय व्यतीत होता था। किन्तु धीरे-धीरे यह अवस्था बदलती गई। मनुष्य संख्या के सामने साधन न्यून पड़ने लगे। इससे मनुष्यों की चिन्ता बढ़ी और चिन्ता का स्थान संघर्ष ने लिया। यद्यपि उस समय इस चिन्ता से मुक्ति दिलानेवाले कुछ महानुभाव आगे आये जिन्होंने उस समय की परिस्थिति के अनुरूप मार्ग दर्शन

किया जिससे चालू परिस्थिति में कुछ सुधार भी हुआ। किन्तु यह अवस्था कब तक रहनेवाली थी। चालू जीवन के साथ जो नये-नये प्रश्न उठ खड़े हुए थे उनका भी समाधान आवश्यक था। उस समय के लोगों ने परिस्थिति सुलझाई तो पर स्थायी हल न निकल सका। आवश्यकता केवल जीवन यापन के नये-नये साधनों के ज्ञान कराने की नहीं थी किन्तु इसके साथ तृष्णा को कम करने के उपाय बतलाने की भी थी। यह ऐसी घड़ी थी जब योग्य नेतृत्व की ओर सबकी टकटकी लगी हुई थी।

अध्यात्मवाद को व्यावहारिक रूप देनेवाले भगवान् ऋषभदेव ऐसे ही नाजुक समय में जन्मे थे। ये सब प्रकार की व्यवस्थाओं के आदि प्रवर्तक होने से आदिनाथ इस नाम द्वारा भी अभिहित किये गये थे। इन्होंने अपने जीवन के संशोधन द्वारा अध्यात्मवाद के आधारभूत निम्नलिखित सिद्धान्त निश्चित किये थे।

१—विश्व मूलभूत अनेक तत्त्वों का समुदाय है। इसमें जड़ चेतन सभी प्रकार के तत्त्व मौजूद हैं।

२—ये सभी तत्त्व स्वतन्त्र और अपने में परिपूर्ण हैं।

३—विश्व परिणमनशील होकर भी उसका परिणाम स्थायी आधारों पर अवलम्बित है। न तो नये तत्त्व का निर्माण होता है और न पुराने तत्त्व का ध्वंस ही।

४—वस्तु का परिणाम निमित्त सापेक्ष होकर भी नियत दिशा में होता है। निमित्त इतना बलवान् नहीं जो किसी पदार्थ के परिणमन की दिशा बदल सके या उसे अन्यथा परिणमा सके।

५—प्रत्येक व्यवस्था पदार्थों के परिणाम और उनके निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धों में से फलित होनी चाहिये, क्योंकि जो व्यवस्था कल्पना द्वारा ऊपर से लादी जाती है उसके अच्छे परिणाम निष्पन्न नहीं होते।

६ – व्यक्तियों के जीवन में आई हुई कमजोरी के आधार से किये गये समझौते के फलस्वरूप राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था की जाती है। पूर्ण स्वावलम्बन की दिशा में जो व्यक्ति प्रगति करना चाहते हैं उनके मार्ग में ये व्यवस्थाएँ बाधक ही हैं साधक नहीं।

७ – कर्म इन व्यवस्थाओं का कारण नहीं। किन्तु इन व्यवस्थाओं का मुख्य आधार जीव के अशुद्ध परिणाम हैं। जीव के अशुद्ध परिणाम कर्म के निमित्त से होते है और वे परिणाम इन व्यवस्थाओं मे कारण पड़ते हैं इतना अवश्य है। कर्म का वही स्थान है जो अन्य निमित्तों का है।

८ सब व्यवस्थाओ का मूल आधार सहयोग और समानता है। आजीविका के साधन कुछ भी रहें उनसे समानता मे बाधा नहीं आती।

९—जीवन सशोधन का मूल आधार स्वावलम्बन है। परावलम्बी जीवन त्रिकाल में निर्मलता की ओर अग्रेसर नहीं हो सकता।

ये वे सिद्धान्त हैं जो उनके उपदेशो से फलित होते है। इनकी परम्परा में आज तक जो अगणित सन्त महापुरुष हुए है उन्होंने भी उनकी इस दिव्य वाणी को दोहराया है और व्यक्तिस्वातन्त्र्य के मार्ग को प्रशस्त किया हैं। पूज्य श्री वर्णीजी महाराज उन सन्तो मे से एक है जिनकी पुनीत दिव्यवाणी का लाभ हम सबको हो रहा है। इस पुस्तक मे उनकी वही दिव्य वाणी ग्रथित की गई है। यह प्रायः उनके उपदेशों और लेखों के मूल वाक्य लेकर संगृहीत की गई है। इसमें उन त्रिकालावाधित तत्त्वों का निर्देश है जिनकी विश्व को सदा काल आवश्यकता बनी रहेगी।

जैसा कि हम पहले लिख आये है कि इस समय भौतिकवाद और ईश्वरवाद का गहरा संघर्ष है। एक ओर भौतिक समाजवाद अपनी जड़ें पक्की कर रहा है। उसका सबसे मोटा यह सिद्धान्त है कि जगत्

में धर्म और ईश्वर के नाम पर जितने भी पाखण्ड फैलाये गये हैं वे सब भोली जनता को फसाने के साधन मात्र हैं। उसके मत से साधनों के आधार से जीवन में जो विषमता आ गई है उसका कारण वर्तमान आर्थिक विषमता ही है। यदि उत्पत्ति के साधनों पर राष्ट्र का अधिकार हो जाता है तो ये सब बुराइयाँ सुतरां दूर हो जाती हैं। इसलिये उसके अनुयायी किसी भी उपाय द्वारा वर्तमान व्यवस्था को बदलने के लिये कटिबद्ध हैं। दूसरी ओर ईश्वरवादी अपनी बिगड़ी हुई साख के बिठाने में लगे हुए हैं। वे व्यक्तिस्वातन्त्र्य का दावा तो करने लगे हैं पर जो ईश्वरवाद परतन्त्रता की जड़ है उसे नहीं छोड़ना चाहते। वे यह अच्छी तरह से जानते हैं कि ईश्वर को तिलाञ्जलि देने पर वर्तमान व्यवस्था का कोई आधार ही नहीं रह जाता है। फिर तो समाजवाद के प्रचार के लिये अपने आप मैदान खाली हो जाता है।

अब देखना यह है कि क्या इन दोनों में से किसी एक के स्वीकार कर लेने पर संसार का कल्याण हो सकता है? क्या व्यवस्था का उद्देश्य केवल इतना ही है कि या तो अनन्त काल के लिये किसी अज्ञात और कल्पित शक्ति की गुलामी स्वीकार कर ली जाय या सारा जीवन रोटी का सवाल हल करने में बिताया जाय। जहाँ तक हम समझते हैं ये दोनों व्यवस्थायें अपूर्ण है। एक ओर जहाँ ईश्वरवाद को स्वीकार करने पर व्यक्तिस्वातन्त्र्य का घात होता है वहाँ दूसरी ओर केवल भौतिक समाजवाद को स्वीकार करने से जीवन का कोई उद्देश्य ही नहीं रह जाता। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि कोई ऐसा मार्ग चुना जाय जिसके आधार से ये सब बुराइयाँ दूर की जा सकें। हमारी समझ से अध्यात्मवाद में वे सब गुण मौजूद हैं जिनके आधार से विश्वकी व्यवस्था करने पर जीवन का उद्देश्य भी सफल हो जाता है और आर्थिक व्यवस्था का भी सुन्दरतम मार्ग निकल आता है।

अध्यात्मवाद का सही अर्थ है जड़ चेतन सबकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करना और कार्यकारण भावको सहयोग प्रणाली के आधार पर स्वीकार करके व्यक्ति की स्वतन्त्रता को आँच न आने देना।

यदि हम इस आधार से विश्वकी व्यवस्था करने के लिये कटिबद्ध हो जाते हैं तो संसार की समस्त बुराइयाँ सुतरां दूर हो जाती हैं।

शान्ति और सुव्यवस्था के साथ मानव मात्र को प्रत्येक क्षेत्र में समानता के अधिकार मिलें, कोई जाति पिछड़ी हुई, अछूत और अशिक्षित न रहने पावे, स्त्रियों का वर्तमान कालीन असह्य अवस्था से उद्धार होकर पुरुषों के समान वे नागरिकता के सब अधिकार प्राप्त करें, सांप्रदायिकता का उन्मूलन होकर उसके स्थान में बन्धुत्व की भावना जागृत हो और वर्तमान कालीन आर्थिक व्यवस्था का अन्त होकर सर्वोपयोगी नयी व्यवस्था का निर्माण हो ये वर्तमान कालीन समस्यायें हैं जिनके हल करने में अध्यात्मवाद पूर्ण समर्थ है।

पाठकों को वर्णी वाणी का इस दृष्टिकोण से स्वाध्याय करना चाहिये। मेरी इच्छा थी कि इसके कुछ चुने हुये वाक्य यहाँ दे दिये जाते किन्तु जब मैं वाक्यों को चुनने के लिये उद्यत होता हूँ तब यह निर्णय ही नहीं कर पाता कि किन वाक्यों को लिया जाय और किन्हें छोड़ा जाय। इसके प्रत्येक वाक्य से जीवन संशोधन की शिक्षा मिलती है। विश्व के साहित्य में इसे तामिल वेद की उपमा दी जा सकती है। इसके एक एक वाक्य में अमृत भरा पड़ा है। पूज्य श्री वर्णी जी ने अपने जीवन में सब समस्याओं पर विचार किया है और अपने पुनीत उपदेशों द्वारा उन पर प्रकाश डाला है। यह उन उपदेशों का पिटारा है। इससे हमें स्वतन्त्रता त्याग, बलिदान, सेवा, कर्तव्यपरायणता, उदासीनता, भद्रता, भक्ति, मानवधर्म, सफलता के साधन आदि सभी उपयोगी विषयों की

शिक्षा मिलती है। छोटे छोटे वाक्यों में ये शिक्षायें भरी पड़ी है। जीवन में आई हुई उलझनों से निस्तार कैसे हो सकता है यह इससे अच्छी तरह सीखा जा सकता है। ऐसी यह उपयोगी पुस्तक है। यह क्या पढ़े लिखे, क्या मूर्ख सबके उपयोग की है। एक बार जो इसे अपने हाथों में लेगा उसे छोड़ने को जी नहीं चाहेगा ऐसा सुन्दर इसका संकलन हुआ है।

सकलयिता प्रिय भाई नरेन्द्र कुमार जी जैन हैं। पूज्य श्री वर्णी जी का साहित्य यत्र तत्र बिखरा पड़ा है। अभी वह न तो एक जगह संकलित ही हो पाया है और न अभी पूरा प्रकाशित ही हुआ है। फिर भी भाई नरेन्द्र कुमार जी ने पूरा श्रम करके इस काम को सम्पन्न किया हैं। वे इस काम में पूर्ण सफल हुए है इसमें जरा भी सन्देह नहीं। उन्होंने जिस आधार से इसका संकलन किया है उसका निर्देश अन्यत्र किया ही है।

अन्त में मेरी यही भावना है कि जो पुनीत सिद्धान्त इसमें ग्रथित किये गये हैं उनका घर घर में प्रचार हो और बिना किसी भेद भाव के सब इससे लाभ उठावें।

ता० ३०-४-४९
भदैनीघाट बनारस

फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

अपनी भूल का प्रायश्चित ?

"वर्णी वाणी" प्रथम संस्करण का सम्पादन करते समय मुझे अपने ही जैसे अपने उन विद्यार्थी बन्धुओं और असहाय विधवा बहिनों से मिलने का अवसर मिला, जिन्हें समाज की इन अगणित संस्थाओं में प्रवेश पा सकने के लिये या अपने उज्वल भविष्य निर्माण के लिये उनकी गरीबी उन्हें अभिशाप थी। विषम परिस्थिति पर विजय पाने का सबसे अच्छा उपाय था विद्यार्थी वन्धु वत्सल पूज्य वर्णीजी से निवेदन करना, इसलिये- शिक्षक शिक्षार्थी और शिक्षा संस्थाओं के सम्बन्ध में "पूज्य वर्णीजी से खुला निवेदन" शीर्षक लेख द्वारा वी० २४७३ के जैन-मित्र अंक ३७-३८ में वर्णीजी के समक्ष अपना हार्दिक निवेदन करते हुए परिस्थिति के सुधार हेतु १३ सुझाव रखे। जिससे कि बीसवीं सदी के उन्नतिशील युग के अनुसार संस्कृत के विद्यार्थी भी अपने मानसिक विकाश के लिये निरर्थक पाठ्यक्रम के भार से मुक्त हों और संकुचित दायरे में उन्हें जीवन यापन न करना पड़े अपितु साधन सम्पन्न व्यक्तियों के बालकों की तरह उन्हें भी उन्नतिशील युग के अनुसार आगे बढ़ने के लिये सामयिक शिक्षा क्षेत्र में जाने की सुविधा मिले। मेरा विचार था कि संस्कृत की पढ़ाई तो हो परन्तु वह केवल घुटन्त रूप में न होकर विशुद्ध रूप में हो, साथ ही समय के अनुसार धार्मिक, लौकिक ऐतिहासिक, भौगोलिक, राजनैतिक आदि आवश्यक शिक्षा भी दी जाय जिससे शिक्षार्थी का उद्देश्य अपने उज्वल भविष्य का निर्माण सार्थक हो। वह स्वावलम्बन पूर्वक उभयलोक की साधना कर सके। रखे गये तेरह सुझावों को यदि कार्य रूप में परिणत किया जाता तो निःसन्देह शिक्षक शिक्षार्थी और शिक्षाओं मे एक नई जीवन ज्योति

जागृत हुए बिना न रहती किन्तु इससे एक नया वातावरण उठ खड़ा हुआ जिसे देखकर मुझे अपनी भूल याद आई कि वास्तव में समाज में अभी—"बालादपि सुभाषितं ग्राह्यम्" (बच्चों की भी न्याय नीति की बात सुनने) की क्षमता नहीं आई अतः मैंने यह लेख लिखकर अरण्य-रोदन की बड़ी भारी भूल की।

इस विषम वातावरण का मेरे ऊपर जो प्रभाव पड़ा उससे हार्दिक क्षोभ होना स्वाभाविक ही था। परन्तु सौभाग्य यह रहा कि कुछ ऐसे सज्जन मिले जिन्होंने मुझे हार्दिक सान्त्वना दी। उनमें एक थे श्रीमान् बाबू बालचन्द्रजी मलैया बी० एस० सी० सागर जिन्होंने अपने पत्र द्वारा मुझे साहस दिया। मलैयाजी ने अपने ता० ८-९-४७ के पत्र में लिखा—
"भा० नरेन्द्र !

"पत्र आपका भादों कृष्ण ६ का आया। बड़े कार्य करने के लिये ख्याल उस कार्य से बहुत बड़े रखने पड़ते हैं। कारण, कार्य-सिद्धि तभी होती है जब कि वह मन, वचन, काय से किया जाय। जब सभी एक ही दिशा में निर्मल प्रगति करें। मेरे यह लिखने का तात्पर्य यही है कि अगर आप या और कोई ऐसे कार्य को उठाने का बीड़ा उठाना चाहेंगे तब उन्हें ऐसा ही करना होगा। कोई कार्य बिलकुल ही उतावली से न करना होगा। गम्भीरता व सावधानी बहुत जरूरी है। कार्य के उपलक्ष्य में हमें उसमें आहुति देनी होती है, तभी कार्य सफल हो सकता है। हमारे धर्म के उच्च आदर्श हैं पर वे एक अकर्मण्य समाज के हाथ में हैं, निठल्ली व मन-वचन-काय से गिरी हुई समाज के हाथ में हैं। आत्मबल तो इसीलिये है ही नहीं। फिर बड़े कार्य करने की क्षमता कहाँ से हो! आपको मैंने इन बातों का लक्ष्य केवल इसीलिये किया है कि अगर आपको समाज का कल्याण करना है तो अपने को उस पर आहुति देना होगा। व मेरे से भूले भटके की तरह जो कुछ भी होगा, मैं सहयोग में तत्पर रहूँगा। आपने जो पत्र में लिखा है वह कटु-सत्य है, पर हमारे सामने समस्या एक ऐसी

है कि जिससे हम उस सत्य का प्रयोग भी नहीं कर सके हैं। कारण यह है कि हममें अबुद्धि और अविवेक का विष स्वार्थता के सहयोग से इतना बढ़ गया है कि आपके व किसी के उसके विपरीत बचन एक केवल जलते हुए लाल लोहे के तवे पर पानी के बूंद जैसे हैं। आप कभी निराश न होवें। हमने भी आप ही जैसे प्रयास किये थे, पर वे ऐसे दबाये गये कि जिससे अब हम उस क्षेत्र में कहीं फटक भी नहीं सकते हैं। हम जानते थे कि अभी उस क्षेत्र में हम कुछ बदल सकते हैं व फैले हुए वातावरण को लौट सकते हैं पर कुछ असमन्जस ने हमें वहाँ रोक रखा।

"अगर आप श्री वर्णीजी के आगमन के समय हमारे भाषण मे उपस्थित होगे तो स्मरण होगा कि मैंने समाज की उन्नति का केवल एक ही दृष्टिकोण रखा था व तब मेरा शिक्षा देने के विचार से यह मतलब था--

"हमारी शिक्षा एकदम आधुनिक हो जो कि पाश्चात्य तरीकों पर हो, पर साथ-साथ हमारी सभ्यता, हमारी संस्कृति व हमारा चारित्र हमारा ही हो।

"जब तक हम इसे सफल बनाने के मार्ग मे आगे नहीं बढ़ते, तब तक हमारा उत्थान नही होता। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि धार्मिक क्षेत्र में भी तब तक हम अपने को नहीं उठा सकते। सामाजिक व्यापारिक राजनैतिक व दूसरे क्षेत्रों की तो कोई बात ही नहीं।

"समाज इस वक्त बराबर पंडितों के हाथ है व उनसे ही प्रार्थना है कि वे इस पर लक्ष्य दें। हमें आशा तो नहीं कि वे इस प्रकार ध्यान ही देंगे पर अगर आप अपने कुछ साथियों द्वारा इसका बीड़ा उठाएँ तो कार्य को सफल बनाने का उत्तरदायित्व मै ले सकता हूँ। सिर्फ बात यह है कि कार्य गम्भीर है व गम्भीरता से करना होगा। व आपको ज्यादा से ज्यादा ज्ञान उपार्जन में लग जाना होगा। तब हम देखेंगे कि कार्य सफल होगा। यह भी खयाल रखें कि हर एक कार्य आदर्श बिना रखे नहीं होता। कुछ भी हो वर्णीजी को आदर्श आपको बनाना ही होगा वे बराबर आपके कार्य में

सहायक होंगे। आप अपने मार्ग को आदर्श रखकर उसमें भी उनको आदर्श बना सकेंगे ऐसी हमें आशा है।

इससे अब जो भी लेख भेजें अपना दृष्टिकोण उसमें बिलकुल न बदलें, पर गम्भीरता से सोचकर विषय को इस प्रकार रखें कि आपकी नींव मजबूत हो जाय। आप सच समझें आपको उस जलते हुए तवे को शान्त करना है जिस पर पानी के कुछ बूँद तो वैसे ही उछल जल जाते हैं। इससे कार्य बड़ी गम्भीरता से करिये कारण इसमें बड़े-बड़े रोड़े आएँगे जिसका मुख्य कारण यही है कि अज्ञान पर पैसेवाला समाज पंडितों की प्रशंसा में इतना लट्टू है कि न समाज सुधरी न पंडित; जो कि उस पर निर्भर हैं उसे सुधार सके। इससे प्रयोग बड़े ज्ञान व गम्भीरता का होगा व आप इसको लक्ष्य मे रखें।"

आपका—
बालचन्द्र मलैया

मलैयाजी के इस पत्र से मुझे एक नई दिशा, नई जीवन जागृति एवं नई गतिविधि का मन्त्र मिला। "वर्णीवाणी" का सम्पादन जो स्थगित कर चुका था, पुनः प्रारम्भ किया। परन्तु प्रथम संस्करण के प्रकाशित होते ही दूसरी उलझनें सामने आईं पर पुस्तक हाथों-हाथ घर-घर पहुँची।

द्वितीय संस्करण का सम्पादन करने की उतनी प्रबल इच्छा न थी, परन्तु अपनी भूल का प्रायश्चित्त करना भी आवश्यक था और इस पुण्य कार्य को ही उसके लिये उपयुक्त समझकर किया।

पूज्य वर्णीजी के व्यक्तित्व और विद्वत्ता के सम्बन्ध में "वर्णीवाणी" ही प्रमाण है। मुझ जैसे विद्यार्थी का कुछ भी कहना सूर्य को दीपक दिखाना है।

सर्वप्रथम मैं अपने साहित्य-गुरु श्रीमान् पूज्य पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर, श्रीमान् पूज्य पं० गोरेलालजी शास्त्री द्रोणगिरि एवं श्रीमान् पूज्य पं० भोलानाथजी पाण्डेय साहित्याचार्य काशी का आभार मानता हूँ जिन्होंने प्रारम्भ से ही साहित्य की शिक्षा देकर मुझे इस योग्य बनाया।

सचमुच मैं अपने इस गुरुमण्डल की इस उदारता का चिरऋणी रहूँगा।

"वर्णीवाणी" द्वितीय संस्करण की सहायता के लिये श्रीमान् पं० खुशालचन्द्रजी साहित्याचार्य एम० ए० काशी ने वर्णीजी के ३०० पत्रों का एक संग्रह प्रदान किया। धर्म बन्धु श्री ब्र० नाथूरामजी दरगुवाँ (वर्तमान जैन उदासीनाश्रम ईशरी) ने वर्णीजी की पाँच वर्ष की दैनन्दिनी (डायरियाँ) प्रदान कीं तथा वर्णीजी की धर्ममाता की देवरानी श्री शान्तिबाईजी अध्यापिका सागर ने वर्णीजी के सरस्वती भवन के रद्दी के ढेर में से वर्णीजी के २८ वर्ष के प्राचीन लेखादि संग्रह करने की मुझे सुविधा दी, इसके लिये मैं उक्त सभी वर्णी-भक्त महानुभावों का आभारी हूँ।

सहृदय साहित्य-सेवी श्रीमान् पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री महोदय ने पुस्तक का पारिभाषिक शब्दकोष एवं भूमिका लिखी तथा इस कार्य में हर तरह पूर्ण सहयोग दिया, अतः आपका जितना भी आभार मानूँ, थोड़ा ही होगा।

विचार था यह संस्करण बिना मूल्य घर-घर में पहुंचे परन्तु इस का कोई सुयोग न मिला। हम वर्णी-ग्रन्थमाला के कृतज्ञ हैं जिसने यह संस्करण प्रकाशित कर समाज को वर्णीजी जैसे महात्मा के उपदेशों को सुलभ बनाया। इसके अतिरिक्त अन्य जिन महानुभावों का प्रत्यक्ष परोक्ष जो भी सहयोग मिला, सभी का आभारी हूँ।

पहिले संस्करण में पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की कमी प्रतीत हुई, अतः इस सस्करण में पूर्ति की गई है। एक विद्यार्थी से भूल होना असम्भव नहीं, अतः आशा है पाठक एवं समालोचक सज्जन मुझे क्षमा करने की अपेक्षा त्रुटियाँ सूचित करेंगे जिन्हें अगले संस्करण में सुधारा जा सके।

वर्णीजी की पवित्र विचारधारा "वर्णीवाणी" समाज को सुख-समृद्धि एवं शान्तिदायक होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

श्री चि० मु० एंग्लो बंगाली
कालेज, काशी
श्रुतपञ्चमी, वि० सं० २००६

विद्यार्थी—"नरेन्द्र" जैन

पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी की जीवन झांकी

बालक गणेश—

श्री हीरालालजी का हीरा और उजयारी बहू की आँखों का दिव्य उजेला बालक गणेश का जन्म वि० सं० १६३१ की आश्विन कृष्ण ४ को हुआ। प्रकृति की निराली सुषुमा प्राकृतिक मंगलाचार करती प्रतीत हो रही थी। हँसेरा ग्राम (झाँसी) अपने को कृतकृत्य और वहाँ की गरीब कुटियाँ अपने को धन्य समझ रही थीं। मुस्कराता हुआ बालक सहसा आतुर हो उठता खेलने-खेलते अपने आपको कुछ समझने के लिये, दूसरों को कुछ समझाने के लिये।

विद्यार्थी गणेशीलाल—

होनहार विद्यार्थी गणेशीलाल का क्षेत्र अब घर नही एक छोटा-सा देहाती स्कूल और मड़ावरा का श्री राममन्दिर था। वि० सं० १६३८, अवस्था ७ वर्ष की थी परन्तु विवेक बुद्धि, प्रतिभाशालिता और विनय सम्पन्नता ये ऐसे गुण थे जिनके द्वारा विद्यार्थी गणेशीलाल ने अपने विद्या गुरु श्री मूलचन्द्रजी शर्मा से विद्या को अपनी पैतृक सम्पत्ति या धरोहर की तरह प्राप्त किया। गुरु की सेवा करना अपना कर्तव्य समझ कर गुरुजी का हुक्का भरने में भी कभी आना कानी नहीं की। निर्भीकता भी कूट-कूट कर भरी थी, आखिर एक बार तम्बाकू के दुर्गण गुरुजी को बता दिये, हुक्का फोड डाला गुरुजी प्रसन्न हुए, हुक्का पीना छोड़ दिया।

बचपन की लहर थी, विवेक परायणता साथ थी, जैन मन्दिर के चबूतरे पर शास्त्र प्रवचन से प्रभावित होकर विद्यार्थी गणेशीलाल ने भी रात्रि भोजन त्याग की प्रतिज्ञा ले ली। यही वह प्रतिज्ञा थी, यही वह त्याग था, जिसने

१० वर्ष की अवस्था में (वि० सं० १९४१ में) विद्यार्थी गणेशीलाल को सनातन धर्म से जैनी बना दिया। इच्छा तो न थी परन्तु कुलपद्धति की विवशता थी अत (सं० १९४३) १२ वर्ष की अवस्था मे यज्ञोपवीत संस्कार भी हो गया। विद्यार्थीजी ने (सं० १९४६) १५ वर्ष की आयु मे उत्तम श्रेणी से हिन्दी मिडिल तो उत्तीर्ण कर लिया परन्तु दो भाइयों का असामयिक स्वर्गवास और साधनों का अभाव आगामी अध्ययन मे बाधक हो गया।

मा० गणेशीलाल—

बाल जीवन के बाद युवक जीवन प्रारम्भ हुआ, विद्यार्थी जीवन के बाद गृहस्थ जीवन मे पदार्पण किया, (स० १९४९) १८ वर्ष की आयु मे मलहरा ग्राम का एक सत्कुलीन कन्या उनकी जीवन संगिनी बनी।

विवाह के बाद ही पिताजी का सदा के लिये साथ छूट गया लेकिन पिताजी का अन्तिम उपदेश—"बेटा! जीवन में यदि सुख चाहते हो पवित्र जैन धर्म को न भूलना" सदा के लिये साथ रह गया। परिजन दुःखी थे, आत्मा विकल थी, परन्तु गृह भार का प्रश्न सामने था, अतः (सं० १९४९) मदनपुर कारीटोरन और जतारा आदि स्कूलों में मास्टरी की।

पढ़ना और पढ़ाना इनके जीवन का लक्ष्य हो चुका था, अगाध ज्ञान सागर की थाह लेना चाहते थे अतः मास्टरी को छोड़ कर पुनः प्रच्छन्न विद्यार्थी के वेष में, यत्र तत्र सर्वत्र साधनों की साधना में, ज्ञान जल कणों की खोज में, वीर पिपासु चातक की तरह चल पड़े।

धर्म पुत्र गणेशीलाल—

सं० १९५० के दिन थे, सौभाग्य साथी था, अतः सिमरा मे एक भद्र महिला विदुषीरत्न श्री सि० चिरौंजाबाईजी से भेंट हो गई। देखते ही उनके स्तन से दुग्धधारा बह निकली, भवान्तर का मातृप्रेम उमड पड़ा। बाईजी ने स्पष्ट शब्दों मे कहा—"भैया! चिन्ता करने की आवश्यकता

नहीं तुम हमारे धर्म पुत्र हुए ।" पुलकित बदन, हृदय नाच उठा, बचपन में माँ की गोदी का भूला हुआ वह स्वर्गीय सुख अनायास प्राप्त हो गया। एक दरिद्र को चिन्तामणि रत्न, निरुपाय को उपाय और असहाय को सहारा मिल गया।

सहनशील गणेशीलाल—

बाईजी स्वयं शिक्षित थीं, मातृधर्म और कर्तव्य-पालन उन्हें याद था, अतः प्रेरणा की—"भैया! जयपुर जाकर पढ़ो।" मातृ-आज्ञा शिरोधार्य की।

(१) जयपुर के लिये प्रस्थान किया परन्तु जब जयपुर जाते समय लश्कर की धर्मशाला में सारा सामान चोरी चला गया, केवल पाँच आने शेष रह गये तब छः आने में छतरी बेचकर एक-एक पैसे के चने चबाते हुए दिन काटते बरुआसागर आये। एक दिन रोटी बनाकर खाने का विचार किया, परन्तु वर्तन एक भी पास न था, अतः पत्थर पर से आटा गूँथा और कच्ची रोटी में भीगी दाल बन्दकर ऊपर से पलास के पत्ते लपेटकर उसे मध्यम आँच में तोपकर दाल तैयार की। तब कहीं भोजन पा सके, परन्तु अपने अशुभोदय पर उन्हें दुःख नहीं हुआ। आपत्तियों को उन्होंने अपनी परख-कसौटी समझा।

(२) खुरई जब पहुंचे तब पं० पन्नालालजी न्यायदिवाकर से पूछा—"पं० जी! धर्म का मर्म बताइये।" उन्होंने सहसा झिड़क कर कहा—"तुम क्या धर्म समझोगे, खाने और मौज उड़ाने को जैन हुए हो।" इस वचन-बाण को भी इन्होंने हँसते-हँसते सहा। हृदय की इसी चोट को इन्होंने भविष्य मे अपने लक्ष्य साधन (विद्वद्रत्न बनने) में प्रधान कारण बनाया।

(३) गिरनार के मार्ग पर बढ़े जा रहे थे, बुखार, तिजारी और खाज ने खबर ली। पास के पैसे खतम हो चुके थे, विवश होकर बैतूल की सड़क पर काम करनेवाले मजदूरों में सम्मिलित हुए, परन्तु एक टोकनी मिट्टी खोदी कि हाथों में छाले पड़ गये। मिट्टी खोदना छोड़कर मिट्टी की

टोकनी ढोना स्वीकार किया लेकिन वह भी न कर सके, इसलिये दिनभर की मजदूरी के न तीन आने मिल सके, न नौ पैसे ही नसीब हो सके। कृश शरीर, २० मील पैदल चलते, दो पैसे का बाजरे का आटा लेते, दाल देखने को भी न थी, केवल नमक को डली और दो घूंट पानी ही उन मोटी-मोटी रूखी-सूखी रोटियों के साथ मिलता था फिर भी लेकिन सन्तोस की श्वाँस लेते अपने पथ पर आगे बढ़े।

(४) धर्मपत्नी के वियोग में दुनियाँ दुःखी और पागल हो जाती है, परन्तु भरी जवानी में भी इनकी धर्मपत्नी का (सं० १६५३ में) स्वर्गवास हो जाने से इन्हे जरा भी खेद नहीं हुआ।

(५) सामाजिक क्षेत्रों में भी लोगों ने इन पर अनेक आपत्तियाँ ढहकर इनकी परीक्षा की, परन्तु वे निश्चल रहे, अडिग रहे, कर्तव्य-पथ पर सदा दृढ़ रहे, विद्रोहियों को परास्त होना पड़ा।

इनका सिद्धान्त है—"मूर्ति अगणित टाकियों से टाँके जाने पर पूज्य होती है, आपत्ति और जीवन-सङ्घर्षों से टक्कर लेने पर ही मनुष्य महात्मा बनते है।" इसलिये इन सब आपत्तियों और विरोध को अपना उन्नति-साधक समझकर कभी क्षुब्ध नहीं हुए, सदा अपनी सहनशीलता का परिचय दिया।

पं० गणेशप्रसादजी—

कर्तव्यशील व्यक्ति कभी अपने जीवन में असफल नहीं होते, अनेक आपत्ति और कष्टों को सहन कर भी वे अपने लक्ष्य को सफल कर ही विश्रान्ति लेते हैं। माता की आज्ञा और शुभाशीर्वाद ने इन्हे दूसरे साथी का काम दिया। फलतः विद्योपार्जन के लिये सं० १६५२ से सं० १६८४ तक १—बम्बई, २—जयपुर, ३—मथुरा, ४—खुरजा, ५—हरिपुर, ६—बनारस, ७—चकौती, ८—नवद्वीप, कलकत्ता तथा पुनः बनारस जाकर न्यायाचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की। विशेषता यह रही कि सदा उत्तम श्रेणी में सर्वप्रथम (First class first) उत्तीर्ण हुए। और जहाँ

कहीं भी पारितोषिक वितरण हुआ, सर्वप्रथम पारितोषिक के अधिकारी भी यही हुए ।

इस तरह क्रमशः बढ़ते-बढ़ते अब यह साधारण विद्यार्थी या पण्डित नहीं अपितु अपनी शानी के निराले विद्वद् शिरोमणि हुए ।

बड़े पण्डितजी—

विद्वत्ता में तो यह बड़े हैं ही परन्तु संयम की साधना ने तो इन्हे और भी बड़ा (पूज्य) बना दिया है। इसलिये जिस तरह गुजरात के लोगों ने गांधीजी को बापू कहना पसन्द किया, उसी तरह बुन्देलखण्ड के भोले भक्तों ने इन्हे बड़े पण्डितजी के नाम से पूजना पसन्द किया ।

इन्हे जितना प्रेम विद्या से था उससे कहीं अधिक भगवद्भक्ति से था, यही कारण था कि बड़े पण्डितजी ने अपने विद्यार्थी जीवन में ही सं० १६५२ मे गिरनार और सं० १६५६ में श्री सम्मेद शिखर जैसे पवित्र तीर्थराजों के दर्शन कर अपनी भावुकभक्ति को दूसरों के लिये आदर्श और अपने लिये कल्याण का एक सन्मार्ग बनाया ।

वर्णीजी—

क्रम से किया गया अभ्यास सफलता का साधक होता है यही कारण था कि बड़े पण्डितजी क्रम से बढ़ते-बढ़ते सं० १६७० में वर्णी हो गये । संसारिक विषम परिस्थितियों का गम्भीर अध्ययन करने के बाद उन्हें सभी से सम्बन्ध तोड़ने की प्रबल इच्छा हुई, और इसमे वे सफल भी हुए । यदि ममत्व था तो उन धर्म माता तक ही था, परन्तु सं० १६६३ मे बाईजी का स्वर्गवास हो जाने से वह भी छूट गया ।

परतन्त्रता तो सदा इन्हें खटकने वाली बात थी। एक बार सं० १६६३ में जब सागर से द्रोणगिरि जा रहे थे तब बरुडा में ड्राइवर ने इन्हें फ्रन्ट सीट का टिकट होने पर भी वह सीट दरोगा साहब को बैठने के लिये छोड़ देने को कहा। यह परतन्त्रता उन्हें सह्य नहीं हुई, वहीं पर मोटर की

सवारी का त्याग कर दिया। कुछ लोगों ने अपने यहाँ ही महाराज को रोक रखने के लिये सम्मति दी कि यदि आप यातायात छोड़ दें तो शान्ति लाभ हो सकता है परन्तु वर्णीजी पर इसका दूसरा ही प्रभाव पड़ा और उन्होंने अपने दूसरे ही उद्देश्य से सदा के लिये रेल गाड़ी की सवारी का भी त्याग कर दिया।

सं० २००१ में दशम प्रतिमा धारण की, और अब फाल्गुण कृष्ण ७ २००८ में क्षुल्लक भी हो चुके हैं इस दृष्टि से इन्हें अब बाबाजी कहना ही उपयुक्त है परन्तु लोगों की अभिरुचि और प्रसिद्धि के कारण वर्णीजी "वर्णीजी" ही कहलाते हैं और कहलाते रहेंगे।

ईशरी के सन्त—

गिरिराज शिखरजी की यात्रा की इच्छा से पैदल चले। लोगों ने बहुत कुछ दलीलें उपस्थित कीं—"महाराज! वृद्धावस्था है शरीर कमजोर है, ऋतु प्रतिकूल है", परन्तु हृदय की लगन को कोई बदल न सका, अतः सवारी का त्याग होते हुए भी रेशंदीगिरि, द्रोणगिरि खजराहा आदि तीर्थ स्थानों की यात्रा करते हुए, कुछ ही दिन बाद ७०० मील का लम्बा मार्ग पैदल ही तय कर सं० १९९३ के फाल्गुण में शिखरजी पहुंच गये। शिखरजी की यात्रा हुई परन्तु मनोकामना शेष थी—"भगवान पार्श्वनाथ के पादपद्मों में ही जीवन बिताया जाय" अतः ईशरी में सन्त जीवन बिताने लगे।

आपके प्रभाव से वहां जैन उदासीनश्रम की स्थापना हो गई। कल्याणाथी उदासीन जनों को धर्म साधन करने का सुयोग्य साधन मिला, वर्णीजी के उपदेशामृत पान का शुभ अवसर मिला।

सागर के लाल—

वर्णीजी ने बुन्देलखण्ड छोड़ा परन्तु उसके प्रति सच्ची सहानुभूति नहीं छोड़ी, क्योंकि बुन्देलखण्ड पर उनका जितना स्नेह और अधिकार है उतना

ही बुन्देलखण्ड को भी उन पर गर्व है। बुन्देलखण्ड की उन्हें पुनः चिन्ता हुई, बुन्देलखण्ड को उनकी आवश्यकता हुई क्योंकि वर्णी सूर्य के सिवा ऐसी और कोई भी शक्ति नहीं थी जो अज्ञान तिमिराच्छन्न बुन्देलखण्ड को अपनी दिव्य ज्ञान ज्योति से चमत्कृत कर सकती। बुन्देलखण्ड की भूमि ने अपने लाड़ले लाल को पुकारा और वह चल पड़ा अपनी मातृभूमि की ओर अपने देश की ओर, अपने सर्वस्व बुन्देलखण्ड की ओर। बिहार प्रान्तीय उनके भक्त जनों को दुःख हुआ, वे नहीं चाहते थे वर्णीजी उन लोगों की आँखों से ओझल हों, अतः अनेक प्रार्थनाएँ की, वहीं रुक रहने के लिये अनेक प्रयत्न किये परन्तु प्रान्त के प्रति सच्ची शुभ चिन्तकता और बुन्देलखण्ड का सौभाग्य वर्णीजी को सं० २००१ के बसन्त में सागर ले आया। अभूतपूर्व था वह दृश्य, जब वृद्ध सागर ने अपने डगमगाते हाथों (चञ्चल तरंगों) से अपने लाड़ले लाल वर्णीजी का स्पर्श किया।

मौन देशभक्त वर्णीजी--

वर्णीजी जैसे धार्मिक हैं वैसे ही राष्ट्रीय भी हैं, इसलिये देश सेवा को यह एक मानव धर्म कहते है। स्वयं देश सेवा तन मन धन से करके ही यह लोगों को उस पथ पर चलने की प्रेरणा करते हैं यह इनकी एक बड़ी भारी विशेषता है।

सन् १६४५ (सं० २००२) जब नेताजी के पथानुगामी आजाद हिन्द सेना के सेनानी, स्वतन्त्रता के पुजारी, देशभक्त सहगल, ढिल्लन, शाहनवाज अपने साथी आजाद हिन्द सेना के साथ दिल्ली के लाल किले मे बन्द थे तब इन बन्दी वीरों की सहायतार्थ जबलपुर की भरी आम सभा में भाषण देते हुए अपनी कुल सम्पत्ति मात्र ओढ़ने की दो चादरों में से एक चादर समर्पित की। देशभक्त वर्णीजी की चादर तीन मिनिट में ही तीन हजार रुपये मे नीलाम हुई!

चादर समर्पित करते हुए वर्णीजी ने अपने प्रभाविक भाषण में आत्म-विश्वास के साथ भविष्यवाणी की—"अन्धेर नहीं, केवल थोड़ी-सी देर है।

वे दिन नजदीक हैं जब स्वतन्त्र भारत के लाल किले पर विश्व विजयी प्यारा तिरंगा फहरा जायगा, अतीत के गौरव और यश के आलोक से लाल किला जगमगा उठेगा। जिनकी रक्षा के लिये ४० करोड़ मानवप्रयत्न-है, उन्हे कोई भी शक्ति फाँसी के तख्ते पर नहीं चढा सकती। विश्वास रखिये, मेरी अन्तरात्मा कहती है कि आजाद हिन्द सैनिकों का बाल भी बांका नहीं हो सकता।"

आखिर पवित्र हृदय वर्णी सन्त की भविष्य वाणी थी, आजाद हिन्द सेना के बन्दी वीर मुक्त हो गये, सचमुच अन्धेर नहीं केवल दो वर्ष की देर हुई, सन् १९४७ के १५ अगस्त को भारत स्वतन्त्र हो गया। वह लाल किला अतीत के गौरव और यश के आलोक से जगमगा उठा। लाल किले पर विश्व-विजयी प्यारा तिरंगा भी फहरा गया।

दिल्ली में जाकर देखो तो यही प्रतीत होगा जैसे लाल किले का तिरंगा देशद्रोही दुश्मनों को तर्जना दे रहा हो और यमुना का कल-कल निनाद हमारे नेताओं की विजय-प्रशस्ति गा रहा हो।

समाज-सुधारक--

वर्णीजी को समाज-सुधार के लिये जो कुछ भी त्याग करना पड़ा, सदा तैयार रहे हैं। सामाजिक सुधार क्षेत्रों में अनेक बार असफल हुए, फिर भी अपने कर्तव्य पर सदा दृढ़ रहे हैं। यही कारण है कि बड़ेगॉव आदि के निरपराध बहिष्कृत जैन बन्धुओं का और द्रोणगिरि आदि के निरपराध बहिष्कृत ब्राह्मणों आदि अजैन बन्धुओं का उद्धार सफलता के साथ कर सके। वर्णीजी को जातीय पक्षपात तो छू भी नहीं सका है। यही कारण है कि जैन-अजैन पञ्चों के बीच उन्हें सम्मान मिला, पञ्चों की दुरंगी नीतियाँ, अनेक आक्षेप और समालोचनाएँ उनका कुछ भी न बिगाड़ सकीं। अनेक जगह की जन्मजात फूट और विद्वेष को दूरकर बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह और अनमेल विवाह एवं मरण-भोज जैसी दुष्प्रथाओं का बहिष्कार करने का श्रीगणेश करना वर्णीजी जैसों का ही काम है। कहना होगा कि

समाज की उन्नति में बाधक कारणों को दूरकर वर्णीजी ने बुन्देलखण्ड में जो समाज-सुधार किया, उसीका परिणाम है कि बुन्देलखण्ड के जैन समाज में जैन संस्कृति जीवित रह सकी है।

संस्था-संस्थापक—

प्रकृति का यह नियम-सा है कि जब किसी देश या प्रान्त का पतन होना प्रारम्भ होता है तब कोई उद्धारक भी उत्पन्न हो जाता है। बुन्देलखण्ड में जब अज्ञान का साम्राज्य छा गया तब वर्णीजी जैसे विद्वद्रत्न बुन्देलखण्ड को प्राप्त हुए। विद्या-प्रेम तो आपका इतना अगाढ़ है कि दूसरों को ज्ञान देना ही वे अपने लिये ज्ञानार्जन का प्रधान साधन समझते हैं। प्रतीत होता है, वर्णीजी ज्ञान-प्रचार के लिये ही इस संसार में आये थे। उन्होंने १—श्री गणेश दि० जैन संस्कृत विद्यालय सागर, २—श्रीगुरुदत्त दि० जैन पा० द्रोणगिरि, ३—श्री पार्श्वनाथ विद्यालय बरुआसागर, ४—श्री शान्तिनाथ दि० जैन पा० अहार, ५—श्री पुष्पदन्त विद्यालय शाहपुर, ६—शिक्षा-मन्दिर जबलपुर, ७—श्री गणेश गुरुकुल पटनागंज, ८—श्री द्रोणगिरि क्षेत्र गुरुकुल मलहरा, ९—जैन गुरुकुल जबलपुर आदि पाठशालाओं, विद्यालयों, शिक्षा-मन्दिरों और गुरुकुलों की स्थापना की। बुन्देलखण्ड की इन शिक्षा-संस्थाओं के अतिरिक्त सकल विद्याओं के केन्द्र काशी में भी जैन समाज की प्रमुख आदर्श संस्था श्री स्याद्वाद दि० जैन संस्कृत महाविद्यालय की स्थापना की।

बुन्देलखण्ड जैसे प्रान्त में इन संस्थाओं की स्थापना देखकर तो यही कहना पड़ता है कि इस प्रान्त में जो भी शिक्षा प्रचार हुआ वह सब वर्णीजी जैसे कर्मठ व्यक्ति का सफल प्रयास और सच्ची लगन का फल है। वर्णीजी के शिक्षा प्रचार से बुन्देलखण्ड का जो काया पलट हुआ वह इसी से जाना जा सकता है कि आज से ५० वर्ष पूर्व जिस बुन्देलखण्ड में तत्त्वार्थ सूत्र और सहस्रनाम जैसे संस्कृत के साधारण ग्रन्थ मूलमात्र पढ़ लेनेवाले महाशय पण्डित कहलाते थे उसी बुन्देलखण्ड का आज यह आदर्श है कि

जैन समाज के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वानों में ८० प्रतिशत विद्वान बुन्देलखण्ड के ही हैं।

कहना होगा कि बुन्देलखण्ड की धार्मिक जागृति के कारण सोते हुए बुन्देलखण्ड के कानों में शिक्षा एवं जागृति का मन्त्र फूँकनेवाले और बुन्देलखण्ड के सद्गृहस्थोचित आचार-विचार के संरक्षक यदि हैं तो वे एकमात्र वर्णीजी ही हैं।

मानवता की मूर्ति—

वर्णीजी के जीवन में सरलता और भावुकता ने जो स्थान पाया है वह शायद ही औरों को देखने को मिले किसी के हृदय को दुःख पहुंचाना उनकी प्रकृति के प्रतिकूल है यही कारण है कि अनेक व्यक्ति उन्हें आसानी से ठग लेते हैं। कड़े शब्दों और व्यङ्गात्मक भाषा का प्रयोग कर दूसरों को कष्ट पहुंचाना उन्होंने कभी नहीं सीखा। हित की बात आसानी से मधुर शब्दों की सरल भाषायें कह कर मानना न मानना उसके ऊपर छोड़कर अपने समय का सच्चा सदुपयोग ही उन्हें प्रिय है।

आपत्तियों से टक्कर लेना, विपत्ति में कर्म न छोड़ना, दूसरों का दुःख दूर करने के लिये असहायों की सहायता, अज्ञानियों को ज्ञान और शिक्षार्थियों को सब कुछ देना इनके जीवन का व्रत है।

दाव-पेंच की बातों में जहाँ वर्णीजी में बालकों जैसा भोलापन है वहाँ सुधारक कार्यों में युवकों जैसी सजीव क्रान्ति और वयोवृद्धों जैसा अनुभव भी है। संक्षेप में वर्णीजी मानवता की मूर्ति हैं अत उसी का सन्देश देना उन्होंने अपना कर्तव्य समझा है।

मेरी शुभकामना है कि वर्णीजी चिरायु हों, मानवता का सन्देश लिये विश्व को सदा कल्याण पथ-प्रदर्शन करते रहें।

वि० "नरेन्द्र" जैन
स्नातक—श्री स्याद्वाद दि० जैन संस्कृत महाविद्यालय,
काशी

वर्णीवाणी पर लोकमत

१

भारतीय संस्कृति की धारा श्रमण संस्कृति के रूप में भी बही है जो अन्यापेक्षया अधिक उदात्त पुनीत और व्यापक ध्येय को लिए हुए हैं। भिन्न-भिन्न समय में जैन श्रमणों ने अपनी गहनतम आध्यात्मिक साधना द्वारा, बिना किसी साम्प्रदायिक भेद भावों के, भारतीय जन-जीवन के धरातल को ऊँचा उठाने का अनुकरणीय प्रयास कर, मानव संस्कृति को ही एक प्रकार से प्रोत्साहित किया है। भारत में क्या विश्व में यही एक ऐसी संस्कृति है जो जातिवाद, संस्कृति या धर्म के नाम पर अहंकार और मानव कृत उच्चत्वनीचत्व की दूषित परंपरा को प्रश्रय नहीं देती, वह तो आत्मशोधन का अधिकार प्राणी मात्र को देती है। भावी भारत का बुद्धिजीवी मानव समाज इसी के बल पर अपना सुन्दर निर्माण कर सकता है। इसमें वह सत्य है जो त्रिकालाबाधित है। परन्तु अतीव दुःख और परिताप की बात तो यह है कि जैनों ने अपनी संस्कृति को समुचित रूप से आत्मसात् न किया। वे वैदिकी सभ्यता के प्रभाव में आकर, जैन संस्कृति के विरुद्ध आचरण करने लगे, आश्चर्य यह कि कुछ पोथियों का उन्हें सहारा भी मिल गया। प्रस्तुत वर्णीवाणी को मैंने मनोयोग से पढ़ा, मुझे इसने बहुत प्रभावित भी किया। इसका कारण मुझे तो यही प्रतीत होता है कि इसमें केवल आध्यात्मिक विषय का ही समावेश किया गया है परन्तु यह आध्यात्मिकता समाज विरुद्ध नहीं है। सदाचार मय जीवन यापन के लिये ऐसे ग्रन्थों की आवश्यकता स्वतन्त्र भारत के लिए अधिक है। अगली दुनिया के लिये इसमें मार्ग है, प्रेरणा है, चेतना है और स्फूर्ति है। वर्णीजी ने इस युग में आध्यात्मिक

ज्योति को प्रज्वलित कर रखा है जो भारत के लिए गौरव की बात है। इसके विचारों का प्रचार सम्पूर्ण भारत ही नहीं किन्तु विश्व में होना चाहिये। विदेशी भाषा में यदि किसी ने लिखी होती तो शायद इसका प्रचार अधिक होता। अच्छा हो ग्रन्थमालावाले इसे कई भाषाओं में प्रकाशित करें। वर्णीजी से भी मैं आशा करूँ कि वे भावी भारत के जैनों के लिए कोई व्यवस्था देकर जैन संस्कृति का गौरव बढ़ावेंगे।

मुनि कान्तिसागर

२

'वर्णीवाणी' संकलयिता वि० नरेन्द्र जैन

"श्री नरेन्द्रकुमारजी जैन की 'वर्णीवाणी' मैंने पढ़ी। इस पुस्तक में श्री नरेन्द्रकुमारजी ने जैनधर्म के प्रकांड पंडित, जैनियों के गुरुदेव पूज्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णी के विचारों का संकलन किया है। पूज्य वर्णीजी की आध्यात्मिकता से जैन मतावलम्बी तो सभी परिचित हैं। उनके मुखारविन्द से उनके उपदेश सुनने का अवसर सबको प्राप्त नहीं हो सकता। अतः उनके निर्मल विचारों को इस पुस्तक में संकलित करके श्री नरेन्द्रकुमारजी ने उन्हें सर्वसुलभ बना दिया है। इसके लिये वह जनता के धन्यवाद के पात्र हैं।"

सन्तप्रसाद टण्डन
परीक्षामन्त्री
हिन्दी साहित्य साहित्य सम्मेलन प्रयाग

३

२८.४.४८

श्रीमान् माननीय पं० गणेशप्रसादजी वर्णी महोदय उन व्यक्तियों में से हैं जिन्होंने रागद्वेष पर विजय प्राप्त कर निरन्तर आत्म चिन्तन से वास्तविक आत्म सुख को प्राप्त किया है। परम सौभाग्य से मेरा भी इनके साथ चिर परिचय रहा। परम दयालुता, परोपकारिता, शान्ति प्रियता,

शास्त्राध्ययन, कुशलता, आदि प्रशस्त गुणों के वह एक आश्रय हैं। समय समय पर इनके द्वारा दिये गये सदुपदेशों का संग्रहात्मक ग्रन्थ—"वर्णी वाणी" प्रथम संस्करण प्रकाशित हो चुका। यह द्वितीय संस्करण है। इसके श्रवण तथा अध्ययन से सांसारिक दुःखों से सन्तप्त जीवों को चिरकाल तक के लिये सुख शान्ति का लाभ होगा ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। प० नरेन्द्रकुमारजी ने इसका सकलन एवं सम्पादन कर प्रकाशित कराकर समाज का महान् उपकार किया है। इनके इस उत्साह को देखकर मेरा विश्वास है कि इनके द्वारा समाज का उत्तरोत्तर अधिकाधिक कल्याण होगा।

२-५-४९ } मुकुन्दशास्त्री खिस्ते, साहित्याचार्य
प्रो० गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, काशी

श्री नरेन्द्रजी के द्वारा संग्रहीत और सम्पादित 'वर्णी-वाणी' देखने का सौभाग्य मुझे मिला। 'वर्णी-वाणी' को आद्योपान्त पढ़कर चित्त में बहुत आनन्दानुभूति हुई। आज के इस सघर्षमय युग में यह पुस्तक मुझे 'शान्ति के दूत' की तरह प्रतीत हुई।...

दाव-पेंच खेलकर मनुष्य सांसारिक सफलता की अन्तिम सीढ़ी पर भले ही पहुँच जाय, फिर भी कुछ ऐसा बच रहता है जिसके लिये वह पिपासाकुल रह जाता है। और वह पिपासा किसी प्रकार शान्त होना नहीं चाहती।

जो ज्ञानी है, कहिये जो भाग्यवान् है, वह किसी 'सरोवर' की खोज में लग जाता है। सरोवर तक चाहे अपने जीवन-काल में न भी पहुँचे, चैन उसे मिलने लगती है, जीवन फिर हाहाकारमय नहीं रहता।

यह पुस्तक उसी सरोवर के मार्ग की ओर ले जानेवाली है।...

छोटे-छोटे वाक्य हैं, बिलकुल सरल और सुबोध। कहीं तो लगता है कि जैसे बालक ने कुछ कह दिया है अपनी निश्छल भाषा में और

कहीं पर उपनिषदों की जैसी गम्भीर वाणी सुनाई देती है। परन्तु सब कहीं 'कल्याण' की छाया है।

सन्तों की वाणियाँ सम्प्रदाय विशेष, मत विशेष और दुराग्रह से परे होती हैं। वर्णी-वाणी में भी वही विशेषता है। चाहे कोई इससे अपना जीवन सुखमय बना सकता है। कहीं रोड़ा नहीं है, घुमाव-फिराव भी नहीं है, ठोकर लगने का भय नहीं है।...

श्री नरेन्द्रजी का यह प्रयत्न सर्वथा प्रशंसनीय है। सम्पादन में उन्होंने बहुत परिश्रम किया है और सफल भी हुये हैं।

सन्त का आशीर्वाद उन्हें मिला ही होगा। मेरी और सन्त की क्या तुलना है। परन्तु एक अध्यापक एक छात्र को आशीर्वाद के अतिरिक्त और क्या दे सकने में समर्थ है?

वही आशीर्वाद दे रहा हूँ कि श्री नरेन्द्रजी अपने जीवन में 'सफल' हों और सत् साहित्य की दिशा में उन्होंने जो पग रक्खा है वह अग्रगामी हो।

काशीधाम
२६ मार्च, १९४९

द्विजेन्द्रनाथ मिश्र
साहित्याचार्य, एम० ए०

कहाँ क्या पढ़िये ?

वर्णी-वाणी

वर्णी-वाणी

यः शास्त्रार्णवपारगो विमलधीर्यं संश्रिता सौम्यता ।
येनालम्भि यशः शशाङ्कधवलं यस्मै व्रतं रोचते ॥
यस्माद् दूरतरं गता प्रमदता यस्य प्रभावो महान् ।
यस्मिन् सन्ति दयादयः स जयति श्रीमान् गणेशः सुधीः ॥

कल्याण का मार्ग

१. जिन कार्यों के करने से सक्लेश होता है उन्हें छोड़ने का प्रयास करो, यही कल्याण का मार्ग है।

२. कल्याण का उदय केवल लिखने, पढ़ने या घर छोड़ने से नहीं होगा अपितु स्वाध्याय करने और विषयों से विरक्त रहने से होगा।

३ कल्याण के पथ मे बाह्य कारणों की आवश्यकता नही। कालादिक जो उदासीन निमित्त हैं वे तो शुद्ध तथा अशुद्ध दोनों को प्राप्ति मे समान रूप से कारण हैं, चरम शरीरादिक सब उपचार से कारण हैं। अतः मुख्यतया एकत्व परिणत आत्मा ही संसार और मोक्ष का प्रधान कारण है।

४. श्रद्धापूर्वक पर्याय के अनुकूल यथाशक्ति निवृत्ति मार्ग पर चलना ही कल्याण का मार्ग है।

५. कल्याण का मार्ग बाह्य त्याग से परे है और वह आत्मानुभवगम्य है।

६ कल्याण का पथ बातों से नहीं मिलता; कषायों के सम्यक् निग्रह से ही मिलेगा।

७. यदि हमको स्वतन्त्रता रुचने लगी तब समझना चाहिये अब हमारा कल्याण का मार्ग दूर नहीं।

८. कल्याण पथ का पथिक वही जीव हो सकता है जिसे आत्मज्ञान हो गया है।

९. इस भव में वही जीव आत्मकल्याण करने का अधिकारी है जो पराधीनता का त्याग करेगा, अन्तरङ्ग से अपने ही मे अपनी विभूति को देखेगा।

१०. निरन्तर शुद्ध पदार्थ के चिन्तवन में अपना काल बिताओ, यही कल्याण का अनुपम मार्ग है।

११. स्वरूप की स्थिरता ही कल्याण की खनि है।

१२ आडम्बर शून्य धर्म ही कल्याण का मार्ग है।

१३. कल्याण की जननी अन्य द्रव्य की उपासना नहीं, केवल स्वात्मा की उपासना ही उसकी जन्मभूमि है।

१४ कहीं (तीर्थयात्रादि करने) जाओ परन्तु कल्याण तो भीतरी मूर्च्छा की ग्रन्थि के भेदन से ही होगा और वह स्वय भेदन करनी पड़ेगी।

१५ तत्त्वज्ञानपूर्वक रागद्वेष की निवृत्ति ही आत्मकल्याण का सहज साधन है।

१६ अपने परिणामों के सुधार से ही सबका भला होगा।

१७ परपदार्थ व्यग्रता का कारण नहीं, हमारी दृष्टि ही व्यग्रता का कारण है, उसे हटाओ। उसके हटने से हर स्थान तीर्थक्षेत्र है, विश्व शिखरजी है और आत्मा में मोक्ष है।

१८. ससार के सभी सम्प्रदायानुयायी संसार यातना का अन्त करने के लिये नाना युक्तियों, आगम, गुरु परम्परा तथा स्वानुभवों द्वारा उपाय दिखाने का प्रयत्न करते हैं। जो हो हम और आप भी चैतन्यस्वरूप आत्मा हैं, कुछ विचार से काम

लेवें तब अन्त में यही निर्णय सुखकर प्रतीत होगा कि बन्धन से छूटने का मार्ग हम में ही है पर पदार्थों से केवल निजत्व हटाना है।

१९ इच्छामात्र आकुलता की जननी है, अतः वह परमानन्द का दर्शन नहीं करा सकती।

२० कल्याण का मूल कारण मोहपरिणामों की सन्तति का अभाव है। अतः जहाँ तक बने इन रागादिक परिणामों के जाल से अपनी आत्मा को सुरक्षित रक्खो।

२१. जगत की ओर जो दृष्टि है वह आत्मा की ओर कर दो, यही श्रेयोमार्ग है।

२२. जग से ३६ छत्तीस (सर्वथा परान्मुख) और आत्मा से ६३ (सर्वथा अनुकूल) रहो, यही कल्याणकारक है।

२३. मन वचन और काय के साथ जो कषाय की वृत्ति है वही अनर्थ की जड़ है।

२४. सत्पथ के अनुकूल श्रद्धा ही मोक्षमार्ग की आदि जननी है।

२५. कल्याण की प्राप्ति आतुरता से नहीं निराकुलता से होती है।

२६. कल्याण का मार्ग अपने आपको छोड़ अन्यत्र नहीं। जब तक अन्यथा देखने की हमारी प्रकृति रहेगी, तब तक कल्याण का मार्ग मिलना अति दुर्लभ है।

२७. राग द्वेष के कारणों से बचना कल्याण का सच्चा साधन है।

२८. कल्याण का पथ निर्मल अभिप्राय है। इस आत्मा

ने अनादि काल से अपनी सेवा नहीं की केवल पर पदार्थों के संग्रह मे ही अपने प्रिय जीवन को भुला दिया। भगवान अर-हन्त का उपदेश है "यदि अपना कल्याण चाहते हो तो पर पदार्थों से आत्मीयता छोड़ो।"

२९ अभिप्राय यदि निर्मल है तो बाह्य पदार्थ कल्याण में बाधक और साधक कुछ भी नहीं है। साधक और बाधक तो अपनी ही परिणति है।

३०. कल्याण का मार्ग सन्मति में है अन्यथा मानव धर्म का दुरुपयोग है।

३१. कल्याण के अर्थ संसार की प्रवृत्ति को लक्ष्य न बना कर अपनी मलिनता को हटाने का प्रयत्न करना चाहिये।

३२. अर्जित कर्मों को समता भाव से भोग लेना ही कल्याण के उदय में सहायक है।

३३ निमित्त कारणों के ही ऊपर अपने कल्याण और अकल्याण के मार्ग का निर्माण करना अपनी दृष्टि को हीन करना है। बाहर की ओर देखने से कुछ न होगा आत्मपरिणति को देखो, उसे विकृति से संरक्षित रखो तभी कल्याण के अधिकारी हो सकोगे।

३४ कल्याण का मार्ग आत्मनिर्मलता मे है, बाह्याडम्बर मे नही। मूर्ति बनाने के योग्य शिला का अस्तित्व सङ्गमर्मर की खनि में होता है मारवाड़ के बालुकापुञ्ज में नहीं।

३५. पर की रक्षा करो परन्तु उसमे अपने आपको न भूलो।

३६. वही जीव कल्याण का पात्र होगा जो बुरे चिन्तन से दूर रहेगा।

३७. यदि कल्याण की इच्छा है तो प्रमाद को त्याग कर आत्मस्वरूप का मनन करो।

३८ कल्याण का मार्ग, चाहे वन जाओ, चाहे घर में रहो, आप ही मे निहित है। पर के जानने से कुछ भी अकल्याण नहीं होता, अकल्याण का मूल कारण तो मूर्च्छा है। उसको त्यागने से सभी उपद्रव दूर हो जावेगे। वह जब तक अपना स्थान आत्मा मे बनाये है, आत्मा दुःखी हो रहा है। दुःख बाह्य पदार्थ से नहीं होता अपने अनात्मीय भावों से होता है।

३९. कल्याणार्थियों को चाहिये कि जो भी कार्य करें उसमे अहंबुद्धि और ममबुद्धि का त्याग करें अन्यथा ससार-बन्धन छूटना कठिन है।

४० अन्यान्य का धन और इन्द्रियविषय ये दो सुमार्ग के रोड़े हैं।

४१ कल्याण का पथ निरीहवृति है।

४२ ससार मोहरूप है, इसमे ममता न करो। कुटुम्ब की रक्षा करो परन्तु उसमे आसक्त न होओ। जल में कमल की तरह भिन्न रहो, यही गृहस्थ को श्रेयस्कर है।

४३ कल्याण के अर्थ भीषण अटवी में जाने की आवश्यकता नही, मूर्छा का अभाव होना चाहिये।

४४. मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि जो जीव आत्मकल्याण को चाहते हैं वे अवश्य उसके पात्र होते हैं।

४५. अनादि मोह के वशीभूत होकर हमने निज को जाना ही नहीं, तब कल्याण किसका ? इस पर्याय में इतनी योग्यता

है कि हम आत्मा को जान सकते हैं परन्तु बाह्याडम्बरों में फँसने के कारण उसे हम भूले हुए हैं।

४६. कल्याण के लिये पर की आवश्यकता नहीं, हमको स्वयं अपने बल पर खड़ा होना चाहिये और राग द्वेष से बचना चाहिये।

४७. कल्याण का मार्ग आप में है। केवल पर का बुरा करने में अपने उपयोग का दुरुपयोग करने से हम दरिद्र और दुःखी हो रहे हैं।

४८. कल्याण का मार्ग विशुद्ध परिणाम हैं और विशुद्ध परिणाम राग द्वेषकी निवृत्तिसे होते हैं।

४९. यह तो विचारो कि आत्मकल्याण का मार्ग अन्यत्र है या आपमें? पहला पक्ष तो इष्ट नहीं, अन्तिम पक्ष ही श्रेष्ठ है तब हम मृगतृष्णा में क्यों भटकें?

५०. जिन्हें आत्मकल्याण की अभिलाषा हो वे पहिले शुद्धात्मा की उपासना कर अपने को पवित्र बनावें।

५१. कल्याण का पात्र वही होता है जो विवेक से काम लेता है।

५२. चिद्रूप ही आत्मकल्याण का हेतु है।

५३. "कल्याण की प्राप्ति में ज्ञान ही कारण है" यह तो मेरी समझ में नहीं आता। ज्ञान से पदार्थों का जानना होता है, और केवल जानना कल्याण में सहायक होता नही। बाह्य आचरण भी कल्याण में कारण नहीं, क्योंकि उस आचरण का सम्बन्ध बाह्य से है। वचन की पद्धति भी कल्याण में कारण नहीं, क्योंकि वचन योग का निमित्त पाकर पुद्गलों का परिणमन

विशेष है; अतः उत्तम तो यही है कि ज्ञान के द्वारा जो परिणाम बन्ध के कारण हो रहे हैं उन्हें त्यागना चाहिये। इसी से कल्याण होगा।

५४. निःशल्य होकर आनन्द से स्वाध्याय करो, यह कल्याण में सहायक है।

५५. हम लोग अनादि काल से पराधीन हो रहे हैं अतः पर से ही आत्मकल्याण की प्राप्ति चाहते हैं। परन्तु मेरी तो यह दृढ़ श्रद्धा है कि पर के द्वारा किया गया कार्य कल्याणपथ का कारण नहीं। जैसे कोई यह माने कि मैंने धन दिया तब क्या पुण्य न हुआ? पर आप उससे प्रश्न कीजिये कि क्या भाई धन तेरी वस्तु है जो उसे देने का अधिकारी बनता है? वास्तवमें तेरा स्वरूप तो चैतन्य है और धन अचेतन्य है। यदि उसे तू अपना समझता है तब तू चोर हुआ और चोरी के धन से पुण्य कैसा? इसी प्रकार शरीर भी पर है और मन वचन भी पर हैं; अतः इन से भी कल्याण मानना उचित नहीं, क्योंकि कल्याण का मार्ग तो केवल आत्मपरिणाम हैं।

५६ विशेष कल्याण का अर्थी जो पुरुष अपने अस्तित्व मे दृढ़ प्रतीति रखता है उसी के पर का अवबोध हो सकता है, वही जीव देव गुरु धर्म की श्रद्धा का पात्र है, उसीको भेदविज्ञान होता है और वही रागद्वेष की निवृत्ति रूप चारित्र को अङ्गीकार करने का पात्र है। उस जीव के पुण्य और पाप में कोई अन्तर नहीं। शुभोपयोग के होते हुए उसमें उपादेय बुद्धि नहीं, विषयों की अपरिमित सामग्री का भोग होने पर भी आसक्तता नहीं, और विरोधी हिंसा का सद्भाव होने पर भी विरोधियों में विरोधभाव का लेश नहीं। कहाँ तक कहें उस जीव की महिमा अवर्णनीय

है। मेरा तो यही विश्वास है कि उसके भाव में अनन्त संसार की लता को उन्मूल करनेवाली जो निर्मलता है वह अन्य किसी भाव में नहीं। यदि वह भाव नहीं हुआ तब उसकी उत्पत्ति के अर्थ किये जानेवाले सारे प्रयास (सत्समागम जप तप आदि) पानी को विलोड कर घी निकालने के सदृश हैं।

५७ पर्याय की जितनी अनुकूलता है उतना ही साधन करने से कल्याण मार्ग के अधिकारी बने रहोगे।

५८. जबतक अपनी परिणति विशुद्ध और सरल नहीं होती कल्याण का पथ अति दूर है।

५९ दूसरे प्राणियों की कथा मत कहो, अपनी कथा कहो और देखो कि अबतक मैं किन दुर्बलताओं से संसार में रुल रहा हूँ। उन्हें दूर करने की चेष्टा करो। यही कल्याण का मार्ग है।

६०. यदि आप सत्यपथ के पथिक हैं तो अपने मार्ग से चले जाओ, कल्याण अवश्य होगा।

६१ अचिन्त्य शक्तिशाली आत्मा को परपदार्थों के सहवास से हम ने इतना दुर्बल बना दिया है कि बिना पुस्तक के हम स्वाध्याय नहीं कर सकते, बिना मन्दिर गये हमारा श्रावक-धर्म नहीं चल सकता, बिना मुनिदान के हमारा अतिथिसंविभाग नहीं चल सकता और बिना सत्समागम के हमारी प्रवृत्ति नहीं सुधर सकती।

६२. कल्याण तो अपने आत्मा के ऊपर का भार उतारने से ही होगा। यह कार्य केवल शब्दों द्वारा दशधा धर्म के स्तवनादि से नहीं होगा किन्तु आत्मा में जो विकृत औदयिक भाव हैं उन्हें अनात्मीय जानकर त्यागने से होगा।

६३. आत्महित का कारण ज्ञान है। हम लोग केवल ऊपरी बातें देखते हैं जिससे आभ्यन्तर का पता नहीं लगता। आभ्यन्तर के ज्ञान बिना अज्ञान दूर हो ही नहीं सकता। यदि कल्याण चाहो तो ज्ञानार्जन को उतना ही आवश्यक समझो जितना कि भोजन आवश्यक समझते हो।

आत्मशक्ति

१. आत्मा की शक्ति अचिन्त्य है, उसे विकास में लाने-वाला यही आत्मा है।

२. आज संसार में विज्ञान की जो अद्भुत शक्ति प्रत्यक्ष हो रही है यह आत्मा ही का विकास है। शान्ति का जो मार्ग आगम में पाया जाता है वह भी मोक्षमार्ग के आविष्कारकर्ता की दिव्यध्वनि द्वारा परम्परया आया हुआ है। अतः सर्व विकल्पों और मायापिण्ड को छोड़कर अपनी परणति को उपयोग में लाओ। उसका बाधक यदि किसी को समझते हो तो उसे हटाओ।

३. शरीर की परिचर्या में ही आत्मशक्ति का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। इसकी परिचर्या से आज तक जो दुर्दशा हुई है वह इसी का महाप्रसाद है। यह सर्वथा अनुचित है—हमारी मोहान्धता है, जो हमने इस शरीर को अपनाया और उसके साथ भेदबुद्धि को त्याग कर निजत्व की कल्पना की। हम व्यर्थ ही निजत्व की कल्पना कर शरीर को दुःख का कारण मान रहे हैं। यह तो पत्थर से अपने शिर को फोड़कर पत्थर से शत्रुता कर उसके नाश करने का प्रयासमात्र है। वास्तव में पत्थर जड़ है, उसे न किसी को मारने की इच्छा है और न

रक्षा करने की। इसी तरह शरीर को न आत्मा को दुःख देने की इच्छा है और न सुख देने की ही। अतः इससे ममत्व त्याग कर प्रथम आत्मा का वह भाव, जिसके द्वारा शरीर में निजत्व बुद्धि होती थी, त्याग देना चाहिए। इसके होते ही संसार में जितने पदार्थ हैं उनसे अपने आप ममत्व छूट जावेगा और आत्मशक्ति जागृत हो उठेगी।

४ ससार में हम लोग जो आजतक भ्रमण कर रहे हैं, इसका मूल कारण यह है कि हमने अपनी रक्षा नहीं की और निरन्तर परपदार्थों के ममत्व में अपनी आत्मशक्ति को भूल गये।

५ आत्मा ही आत्मा का गुरु है और आत्मा ही उसका शत्रु है।

६. सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का मूल कारण आत्मा ही है। लब्धि तो निरन्तर है केवल काललब्धि की आवश्यकता है। उसके मिलने पर सम्यग्दर्शनका होना दुर्लभ नहीं।

७ आत्मा सर्वदा एकाकी रहता है, अतः परकी पराधीनता से न कुछ आता है और न कुछ जाता है।

८ आत्मा का हित अपने ही परिणामों से होता है। स्वाध्याय आदिक उपयोग की स्थिरता के लिये हैं, क्योंकि अन्त में निर्विकल्पक दशा मे ही वीतरागता का उदय होता है।

९ निज की शक्ति के विकास बिना दर दर भटकते फिरते हैं। यदि हम अपना पौरुष सम्हालें तो अनन्त संसार के बन्धन काट सकते हैं।

१० आत्मा में अचिन्त्य शक्ति है परन्तु कर्मावृत होने से वह ढकी हुई है। इसके लिये भेदविज्ञान की आवश्यकता है

और भेदविज्ञान के लिये महती आवश्यकता आगमाभ्यास की है। जितना समय ससारी कामों में लगाते हो उसका दशांश भी यदि आगमाभ्यास में लगाओ तो अनायास ही भेदविज्ञान हो सकता है।

११. आत्मा अनन्त ज्ञान का पात्र है और अनन्त सुख का धारी है परन्तु हम अपनी अज्ञानता वश दुर्दशा के पात्र बन रहे हैं।

१२. पर को पर जानने की अपेक्षा आत्मा को आत्मा जानना विशेष महत्त्व का है।

१३. आत्मा स्वतन्त्र वस्तु है, ज्ञान उसका निज का भाव है। यद्यपि उसका विकास स्वयं होता है, परन्तु अनादि काल से मिथ्यादर्शन के प्रभाव से आत्मीय गुणों का विकास रुक रहा है। इसी से पर मे आत्मीय बुद्धि मानने की प्रकृति हो गई है। जो पञ्चेन्द्रियों के विषय हैं वे ही अपने सुख के साधन मान रक्खे हैं। यद्यपि ज्ञान के अन्दर उनका प्रवेश नहीं ऐसा प्रत्यक्ष देखने में आता है परन्तु अज्ञानता वश ऐसी कल्पना हो रही है कि यह हमारा है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब दीखता है। वह दर्पण का ही परिणमन है। वास्तव में दर्पण में अन्य पदार्थ का अश भी नहीं गया फिर भी ऐसा भान होता है कि यह बाह्य पदार्थ ही है।

१४. जब तक आभ्यन्तर हीनता नहीं गई तभी तक बाह्य निमित्तों की मुख्यता प्रतीत होती है। आभ्यन्तर हीनता की न्यूनता में आत्मा ही समर्थ कारण है।

१५ आत्मशक्ति पर विश्वास ही मोक्षमहल की नींव है। इसके बिना मोक्ष महल पर आरोहण करना दुर्लभ है।

१६ अन्तरङ्ग की बलवत्ता के समक्ष बाह्य विरुद्ध कारण आत्मा के अहित में अकिञ्चित्कर है परन्तु हम ऐसे मोही हो गये हैं जो उस ओर दृष्टिपात ही नहीं करते। शीतनिवारण के अर्थ उष्ण पदार्थ का सेवन करते हैं और उष्णता निवारण के अर्थ शीत पदार्थ का सेवन करते हैं। परन्तु जिस शरीर के साथ शीत और उष्ण पदार्थ का सम्पर्क होता है उसे यदि पर समझ उससे ममत्व हटा लें तब मेरी बुद्धि में यह आता है कि यह जीव न तो बर्फ के समुद्र में अवगाहन कर शीतस्पर्श-जन्य वेदना का अनुभव कर सकता है, और न धधकती हुई भट्टी में कूद कर उष्णस्पर्शजन्य वेदना का ही। घोर उपसर्ग में आत्मलाभ प्राप्त करनेवाले सहस्रों महापुरुषों के आख्यान इसके प्रमाण हैं।

१७ जो कुछ है सो आत्मा में, यदि वहाँ नहीं तो कहीं नहीं।

१८ अन्तरङ्ग की बलवत्ता ही श्रेयोमार्ग की जननी है।

१९ जिन मनुष्यों को आत्मा होने पर भी उसकी शक्ति मे श्रद्धा नहीं वे मानव धर्म के उच्च शिखर पर चढ़ने के अधिकारी नहीं।

२० आत्मा की शक्ति प्रबल है। जो आत्मा पराश्रित बुद्धि से नरकादि दुर्गतियों का दयनीय पात्र होता है, वही एक दिन कर्मों को नष्ट कर मोक्ष नगर का भूपति बनता है।

२१ आत्मा अचिन्त्य शक्ति है, उसका विकाश जिसमें हो गया वही वास्तवमें प्रशंसा का पात्र और निजत्व का भोक्ता होता है।

आत्मनिर्मलता

१. जिनके अभिप्राय स्वच्छ हैं वे गृहस्थावस्था में भी श्री रामचन्द्रजी की तरह व्यग्र होते हुए भी समय पाकर कर्म शत्रुका विनाश करने में, और सुकुमाल की तरह आत्मशक्ति का सदुपयोग करने में नहीं चूकते।

२ केवल शास्त्र का अध्ययन संसार बन्धन से मुक्त करने का मार्ग नहीं। तोता राम राम रटता है परन्तु उसके मर्म से अनभिज्ञ ही रहता है। इसी तरह बहुत शास्त्रों का बोध होनेपर जिसने अपने हृदय को निर्मल नहीं बनाया उससे जगत का कोई कल्याण नहीं हो सकता।

३ जो आत्मा अन्तरङ्गसे पवित्र होता है उसको देखकर बड़े बड़े मानियों का मान, लोभियों का लोभ, मायावियों की माया और क्रोधियों का क्रोध छूट जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि हम अन्तरङ्ग को निर्मल बनाने की चेष्टा करें।

४ अन्तरङ्ग वासना की विशुद्धि से ही कर्मों का नाश सम्भव है, अन्यथा नहीं।

५. अन्तरङ्ग शुद्धि के बिना बहिरङ्ग सामग्री हितकर नहीं, अतः प्राणी को प्रथम चित्त शुद्धि करना आवश्यक है।

६. समवशरण की विभूतिवाले परम धाम जाते हैं और

व्याघ्रों द्वारा विदीर्ण हुए भी जाते हैं। सिंह से बलवान् पुरुष जिस सद्गति के पात्र हैं, नकुल बन्दर भी उसीकेपात्र हैं। जो कल्याण साता (सुख) में हो सकता है वही असाता (दुख) में भी हो सकता है। देवों के जो सम्यग्दर्शन होता है वही नारकियों के भी हो सकता है। अत: सिद्ध है कि (शारीरिक) सबलता और दुर्बलता सद्गति में साधक और बाधक नहीं, अपि तु आत्मनिर्मलता की सबलता और दुर्बलता ही सद्गति में साधक और बाधक है।

७ आत्मनिर्मलता के अभाव मे यह आत्मा आज तक नाना संकटों का पात्र बन रहा है तथा बनेगा, अतः आवश्यकता इस बात की है कि आत्मीय भाव निर्मल बनाया जाय और उसकी बाधक कषायपरिणति को मिटाने का प्रयास किया जाय। आत्मनिर्मलता के लिए अन्य बाह्य कारणों के जुटाने का जो प्रयास है वह आकाशताड़न के सदृश है।

८ आत्मनिर्मलताका सम्बन्ध भीतर से है, क्योंकि स्वयं आत्मा ही उसका मूल हेतु है। यदि ऐसा न हो तो किसी भी आत्मा का उद्धार नहीं हो सकता।

९. कोई भी कार्य करो वास्तविक तत्त्व को देखो, केवल बाह्य निर्मलता को देखकर सन्तोष नहीं करना चाहिए। बाह्य निर्मलता का इतना प्रभाव नहीं जो आभ्यन्तर कलुषता को हटा सके।

१०. आभ्यन्तर निर्मलता में इतनी प्रखर शक्ति है कि उसके होते ही बहिर्द्रव्य की मलिनता स्वयमेव चली जाती है।

११ जो वस्तु नख से छेदी जा सके उसके लिए भीषण शस्त्रों का प्रयोग निरर्थक है। इसी तरह जो अन्तरङ्ग निर्मलता

विपरीत अभिप्राय के अभाव में स्वयमेव हो जाती है उसके लिए भीषण तप की आवश्यकता नहीं।

१२. आत्मीय परिणति को निर्मल बनाओ, क्योंकि उसी पर तुम्हारा अधिकार है। पर की वृत्ति स्वाधीन नहीं, अतः उसकी चिन्ता करना व्यर्थ है।

१३. जो कुछ करना है आत्मनिर्मलता से करो।

१४ हमारा तो यह दृढ़ विश्वास है कि जब तक आत्मा कलुषित रहता है; नियम से अशुद्ध है और जिस कालमे कलुषित भावों से मुक्त हो जाता है उस काल में नियम से शुद्ध हो जाता है, अतः आत्मनिर्मलताहेतु मिथ्यात्व नष्ट करने का प्रयास करो।

१५ आप जब तक निर्मल न हों तब तक उपदेश देने के पात्र नहीं हो सकते।

१६ आत्मपरिणामों को निर्मल करने मे अपना पुरुषार्थ लगा देना चाहिए। जिन जीवों के परिणाम निरन्तर निर्मल रहते हैं वे नियम से सद्गति के पात्र होते हैं।

१७. आत्मनिर्मलता संसार-बन्धन के छेदन करने में तीक्ष्ण असिधारा है।

१८. जितने अधिक निर्मल बनोगे उतने ही शीघ्र संसार-बन्धन से मुक्त हो जाओगे।

१९. निमित्तजन्य रोग मेटने के लिए वैद्य तथा औषधादि की आवश्यकता है। फिर भी इस उपचार में नियमित कारणता नहीं। परन्तु अन्तरङ्ग निर्मलता में वह सामर्थ्य है जो उस रोग के मूल कारण को मेट देती है। इसमें बाह्य उपचारों की

आवश्यकता नहीं, केवल अपने पौरुष को सम्हालने की आवश्यकता है।

२० श्री वादिराज महाराज ने अपने परिणामों के बल से ही तो कुष्ट रोग की सत्ता निर्मूल की, सेठ धनञ्जय ने औषधि के बिना केवल उसी से पुत्र का विषापहरण किया। कहाँ तक कहें, हम लोग भी यदि उस परिणाम को सम्हालें तो बिजली का आताप क्या वस्तु है, अनादि ससार के आताप का भी शमन कर सकते हैं।

२१. जो आत्मा मानसिक निर्मलता की सावधानी रखेगा वही इस अनादि ससार के पार जावेगा।

२२ इस ससार में महर्षियों ने मानव जन्म की महिमा गाई है परन्तु उस महिमा का धनी वही है जो अपनी परिणति से कलुषता को पृथक् कर दे।

२३ अन्तरङ्ग की शुद्धि होने पर तिर्यञ्च भी मोक्षपथ पा सकता है।

२४ "राग द्वेष दुखदाई है" ऐसा कहने में कुछ भी सार नहीं। उसके कर्ता हम हैं, आत्मा ही आत्मा को दुःख या सुख देनेवाला है इसलिये आत्माको निर्मल बनानेकी आवश्यकता है।

२५ आत्मनिर्मलता के लिये किसी की आवश्यकता नहीं, केवल विपरीत मार्ग की ओर न जाना ही श्रेयस्कर है।

२६ आत्मपुरुषार्थ से अन्तरङ्ग की ऐसी निर्मलता होनी चाहिये कि पर पदार्थों का संयोग होने पर भी इष्टानिष्ट कल्पना न होने पावे।

२७. अन्तरङ्ग की निर्मलता का कारण स्वयं आत्मा है, अन्य निमित्त कारण हैं। अन्य के परिणाम अन्य के द्वारा

निर्मल हो जावें यह नियम नहीं। हाँ, वह जीव पुरुषार्थ करे और काललब्धि आदि कारण सामग्री का सद्भाव हो तो निर्मल परिणाम होने में बाधा नहीं। परन्तु केवल ऊहापोह करे और उद्यम न करे तो कार्य सिद्ध होना दुर्लभ है।

२८. आत्मकल्याण के लिये अधिक समय की आवश्यकता नहीं, केवल निर्मल अभिप्राय की महती आवश्यकता है।

२९. ऐसे ऐसे जीव देखे गये हैं जो थोड़े ही समय में परिणामों की निर्मलता से मोक्षगामी हो गये हैं।

३०. गृहस्थ अवस्था में नाना प्रकार के उपद्रवों का सद्भाव होने पर भी निर्मल अवस्था का लाभ अशक्य नहीं।

३१ वचन की चतुरता से कुछ लाभ नहीं, लाभ तो अभ्यन्तर परिणति के निर्मल होने से है।

३२ अपनी परिणति को पवित्र बनाने की चेष्टा करना ही प्रतिकूल निमित्तों से बचने का उपाय है।

३३ निमित्त कभी भी बुरे नहीं होते। शङ्ख पीला नहीं होता, परन्तु कामला रोगवालों को पीला प्रतीत होता है। इसी तरह जो हमारी अन्तःस्थित कलुषता है वही निमित्तों में इष्टानिष्ट कल्पना करा रही है। जब तक वह कलुषता न जावेगी तब तक संसार में कहीं भी भ्रमण कर आईये, शान्ति का अंशमात्र लाभ न होगा, क्योंकि शान्ति को रोकनेवाली कलुषता तो भीतर ही बैठी है। क्षेत्र छोड़ने से क्या होगा! एक रोगी मनुष्य को साधारण घर से निकाल कर एक दिव्य महल में ले जाया जाय तो क्या वह नीरोग हो जावेगा? अथवा काँच के नग में स्वर्ण की पच्चीकारी करा दी जाय तो क्या वह हीरा हो जावेगा?

३४. निर्मलता में भय का अवसर नहीं। यदि वह होता तो अनादिनिधन मोक्षमार्ग कदापि विकासरूप न होता।

३५ आजकल निर्मलता का अभाव है अतः मोक्षमार्ग का भी अभाव है।

३६ जब तक अन्तरङ्ग निर्मलता की आंशिक विभूति का उदय न हो तब तक गृहस्थी को छोड़ने से रोगादिक नही घटते।

३७ यदि निर्मलतापूर्वक एक दिन भी तात्त्विक विचार से अपने को विभूषित कर लिया तो अपने में ही तीर्थ और तीर्थङ्कर देखोगे।

३८ परिणामों की निर्मलता से आपके सब कार्य अनायास सिद्ध हो जावेगे, धीरता से काम लीजिये।

३९ कल्याण का कारण अन्तरङ्ग की निर्मलता है न कि घर छोड़ना और मौन ले लेना।

४०. निर्मल आत्मा का ऐसा प्रभाव होता है कि उपदेश के बिना ही मनुष्य उसके पथ का अनुसरण करते हैं।

४१ जिनकी आत्मा अभिप्राय से निर्मल हो गई है वह व्यापारादि कार्य करते हुए भी अकर्ता हैं और जिनकी आत्मा अभिप्राय से मलीन हैं वह बाह्य में दिगम्बर होकर कार्य न करते हुए भी कर्ता हैं।

४२. जिन जीवों ने आत्मशुद्धि नहीं की उनका व्रत, उपवास, जप, तप. संयम आदि सभी निष्फल हैं, क्योंकि बाह्य क्रियाएं पुद्गल कृत विकार हैं। पुद्गल की शुद्धि से आत्मशुद्धि होना असम्भव है, इस लिये बाह्य आचरणों पर उतना ही प्रेम

रखना चाहिये जिससे वे आत्मशुद्धि में बाधक न बनने पावें। प्रधानतया तो आभ्यन्तर परिणामों की निर्मलता का ही विशेष ध्यान रखना चाहिये।

आत्मविश्वास

१ आत्मविश्वास एक विशिष्ट गुण है। जिन मनुष्यों का आत्मा मे विश्वास नही, वे मनुष्य धर्म के उच्चतम शिखर पर चढ़ने के अधिकारी नहीं।

२. जिस मनुष्य को आत्मविश्वास नहीं वह कभी भी महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकता।

३ जो मनुष्य सिंह के बच्चे होकर भी अपने को भेड़ तुल्य तुच्छ समझते हैं, जिन्हें अपने अनन्त आत्मबल पर विश्वास नहीं, वही दुःख के पात्र होते हैं।

४ "मुझसे क्या हो सकता है? मैं क्या कर सकता हूँ? मैं असमर्थ हूँ, दीन हीन हूँ" ऐसे कुत्सित विचारवाले मनुष्य आत्मविश्वास के अभाव मे कदापि सफल नहीं हो सकते।

५ जिस मनुष्य को आत्मविश्वास नहीं वह मनुष्य मनुष्य कहलाने का अधिकारी नही।

६ आत्मा के प्रदेश प्रदेश में अनन्तानन्त कार्मण वर्गणाएँ स्थित हैं अतः कर्म बन्ध की भयङ्करता और ससार परिभ्रमणरूप दुःखपरम्परा को देखकर अज्ञानी मनुष्यों का उत्साह भङ्ग हो जाता है, किसी कार्य में उनकी प्रवृत्ति नहीं होती, निरन्तर रौद्रध्यान और आर्त्तध्यान में काल व्यतीत कर

दुर्गति के पात्र बनते रहते हैं। "हाय! इन कार्यों का नाश कैसे कर सकेंगे।" यह विचार बड़े बड़े बलवानों को भी निर्बल और निरुत्साही बना देता है। किन्तु जब वे धर्मशास्त्र के दूसरे विचारों को देखते हैं तब पूर्व विचार द्वारा जो कमजोरी आत्मा मे स्थान पा गई है वह क्षणमात्र मे विलीन हो जाती है। वे विचारते हैं कि जिस कर्म का बन्धन करनेवाले हम हैं उसका नाश करनेवाले भी हमी हैं। आत्मा की शक्ति अचिन्त्य और अनन्त है। जिस तरह प्रचण्ड सूर्य के समक्ष घटाटोप मेघ भी देखने देखते बिखर जाते हैं उसी तरह जब यह आत्मा स्वीय विज्ञानधन और निराकुलतारूप सुख का अनुभव करता है तब उसकी शक्ति इतनी प्रबल हो जाती है कि कितने ही बलिष्ठ कर्म क्यों न हों एक अन्तर्मुहूर्त में भस्मसात् हो जाते हैं। मोह का अभाव होते ही यह आत्मा ज्ञानाग्नि द्वारा अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, और अनन्त वीर्य के प्रतिबन्धक ज्ञानावरणादि कर्मों को इन्धन की तरह क्षण भर में भस्म कर देता है। इस प्रकार जब यह आत्मा अचिन्त्य शक्तिवाला है तब हम लोगों को उचित है कि अनेक प्रकार की विपत्तियों के समागम होने पर भी आत्मविश्वास को न छोड़ें।

७. श्रीरामचन्द्रजी को वनवास में दर दर भटकना पड़ा, अनेक आपत्तियाँ सहनी पड़ीं, समन्तभद्र स्वामी को भी अनेक सङ्कटों ने घेरा, परन्तु उन्होंने अपने आत्मविश्वास को नहीं छोड़ा। अकलङ्क स्वामी ने छः मास पर्यन्त तारादेवी से विवाद कर इसी आत्मबल के भरोसे धर्म की विजय वैजयन्ती फहराई। कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मविश्वास के न होने से हम कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकते। जितने महा-पुरुष हुए हैं उन सभी मे आत्मविश्वास एक ऐसा प्रभाविक

गुण था जिसकी नींव पर ही वे अपनी महत्ता का महल खड़ा कर सके।

८ कवि-व्याख्याता-लेखक, छात्र-छात्राएँ, विद्वान्-विदुषियाँ, कर्जदार-साहूकार, मालिक-मजदूर, वैद्य-रोगी, अभियुक्त-न्यायाधीश, सैनिक-सेनापति, युद्धवीर, दानवीर और धर्मवीर सभी को आत्मविश्वास गुण की परम आवश्यकता है। और की कथा छोड़ो, परमपूज्य वीतरागी साधुवर्ग भी इस गुण के द्वारा ही आत्मकल्याण करने में समर्थ होते हैं। सुकुमाल मुनि प्रकृति के अत्यन्त कोमल थे परन्तु इस गुण के प्रभाव से व्याघ्री द्वारा शरीर विदीर्ण किये जाने पर भी आत्मध्यान से रञ्चमात्र भी नहीं डिगे, उपसर्ग को जीतकर सर्वार्थसिद्धि के पात्र हुए, और द्वीपायन मुनि इस गुण के अभाव मे द्वारका का विध्वंस कर स्वयं दुःखों के पात्र बने।

९ सती सीता मे यही वह प्रशस्तगुण (आत्मविश्वास) था जिसके प्रभाव से रावण जैसे पराक्रमी का सर्वस्व स्वाहा हो गया, सती द्रौपदी मे यही वह चिनगारी थी जिसने क्षण एक के लिये ज्वलन्त ज्वाला बनकर चीर खींचनेवाले दुःशासन के दुरभिमान द्रुम (अभिमान विष वृक्ष) को दग्ध करके ही छोड़ा। सती मैना सुन्दरी में यही आत्मतेज था जिससे वज्रमयी फाटक फटाक से खुल गया। सती कमलश्री और मीराबाई के पास यही विषहारी अमोघ मन्त्र था जिससे विष शरबत हो गया और फुफकारता हुआ भयङ्कर सर्प सुगन्धित सुमनहार बन गया।

१० बड़े बड़े महत्वपूर्ण कार्य जिन पर संसार आश्चर्य करता है आत्मविश्वास के बिना नहीं हो सकते।

११. अस्सी वर्ष की बुढ़िया आत्मबल से धीरे धीरे पैदल चलकर दुर्गम तीर्थराज के दर्शन कर जो पुण्य सञ्चित करती है वह आत्मविश्वास में अश्रद्धालु डोली पर चढ़कर यात्रा करनेवालों को कदापि सम्भव नहीं।

१२. जो आत्मविश्वास पर अटल श्रद्धा रखकर क्रम से सोपान चढ़ते हुए मोक्षमन्दिर में पहुंचकर मुक्तिरमणी पति हुए वे भी तो पूर्व मे हम ही जैसे मनुष्य थे। अतः सिद्ध है कि आत्मविश्वास एक ऐसा प्रयत्नशाली पवित्र गुण है जिससे नर को नारायण होने मे कोई विलम्ब नहीं लगता।

१३ आत्मा के लिये कोई भी कार्य असाध्य नहीं, सारे जगत् के पदार्थों का अनुभव करनेवाले हम हैं। इन्द्रियाँ और मन नही, क्योंकि वे जड़ हैं। अनुभव करनेवाला तो एकमात्र चेतना का परिणाम है। जब ऐसा दृढ़तम विश्वास आत्मा में आ जाता है तब उसका साहस और धैर्य इतना बढ़ जाता है कि अशक्य से अशक्य कार्य भी वह क्षणमात्र में कर डालता है।

१४ जिस समाचार को अपने शरीर द्वारा वर्षों में जान सकते हैं विद्यत शक्ति द्वारा मिनटों में जान सकते हैं। अवधि ज्ञान और मनःपर्ययज्ञान द्वारा इसके असंख्यातवेंभाग समय में जान सकते हैं। केवलज्ञान द्वारा उस एक समाचार की बात तो दूर रहे तीनों लोक और त्रिकाल के समस्त समाचारों को एक समय में अनायास ही प्रत्यक्ष जान लेते हैं। इसका कारण केवल आत्मशक्ति का अचिन्त्य महत्त्व है, अतः अपना आत्मविश्वास गुण कभी मत भूले।

१५. आत्मबल के बिना आत्मा अनन्त ज्ञानादिक की सत्ता नहीं रख सकता। जहाँ अनन्त बल है वहीं अनन्तज्ञान

और अनन्त सुख है। इन गुणों का परस्पर अविनाभावी सम्बन्ध है। अतएव हम लोगों को उस आत्मसत्त्व में दृढ़तम श्रद्धा द्वारा अपने को सांसारिक दुःखों से बचाना चाहिये।

१६ जिस मनुष्य के आत्मसत्त्व में दृढ़ श्रद्धा है वही संसार भर के प्राणियों में उत्कृष्ट है।

१७ जिस कार्य को एक मनुष्य कर सकता है, उसीको यदि दूसरा न कर सके तो समझो कि उसमें आत्मविश्वास की कमी है।

१८. जिन्हें अपने आत्मबल पर विश्वास नहीं, उन्हें संसार सागर की तो बात जाने दो, गाँव की मेंढकतरण तलैया भी गहरी है।

मोक्षमार्ग

मोक्षमार्ग

१. आत्मा अनादिकालीन अपनी भूल से ही संसारी बन रहा है। भूल मिटी की मोक्ष का पात्र होने में विलम्ब नहीं।

२. जो परीषह विजयी होते हैं वही मोक्ष के पात्र होते हैं।

३. जिन जीवों के अभिप्राय शुद्ध हैं चाहे वे कोई भी हों, मोक्षमार्ग के पथिक हैं।

४ जिन जीवों ने अपनी लालसा का अन्त कर दिया वे ही मोक्षमार्ग के पात्र हैं।

५. रागादिक न हों, इसकी चिन्ता न करे। चिन्ता इस बात की करे कि इस प्रकार के जितने भी भाव हैं वे सब विभाव हैं, क्षणिक हैं, व्यभिचारी हैं, अतः इनको परकृत जान इनमें हर्ष विषाद करना उचित नहीं। यही चिन्ता मोक्षमार्ग की प्रथम सोपान है।

६. हम लोग सदा पर पदार्थ में उत्कर्ष और अपकर्ष की समालोचना करते रहते हैं परन्तु "हम कौन हैं ?" इसकी ओर कभी भी दृष्टिपात नहीं करते। फल यह होता है कि आजन्म ज्यों के त्यों भी नहीं; किन्तु छब्बे के स्थान में दुबे रह जाते हैं ! अतः निरन्तर स्वकीय भावों को उज्वल रखने में प्रयत्नशील रहना ही मोक्षाभिलाषियों का मुख्य कर्तव्य है।

७ पर के उत्कर्ष कथा के पुराणों को मनन करने से हम उत्कर्ष के पात्र नहीं हो सकते, अपि तु उस मार्ग पर आरूढ़ होकर मन्दगति से प्रति समय गमन करने पर एक दिन वह आ सकता है जब कि हमारी उत्कर्षता के हम ही दृष्टान्त होकर अनादि मन्त्र द्वारा मोक्षाभिलाषियों के स्मरण विषय बन सकते हैं।

८ आत्मोत्कर्ष के मार्ग में कर्मनिमित्तक इष्टानिष्ट कल्पना ने जो अपना प्रभुत्व जमा रक्खा है उसे ध्वंस करो, यही मोक्षमार्ग है।

९ श्रद्धा के साथ ही सम्यग्ज्ञान का उदय होता है। सम्यग्ज्ञान पूर्वक जो त्याग है वही चारित्र व्यपदेश को पाता है, वही मोक्षमार्ग है। हम अनादिकाल से इस मार्ग के अभाव मे संसार के पात्र बन रहे हैं।

१० जिन महानुभावों ने रागद्वेष की शृङ्खला तोड़ने का अधिकार प्राप्त कर लिया वही मोक्ष के पात्र हैं।

११. जीव अपने ही परिणामों की कलुषता से ससारी है, कलुषता गई कि ससार चला गया।

१२ इस काल में जो मनुष्य यथाशक्ति कार्य करेगा, आडम्बर जाल से मुक्त रहेगा तथा निराकुल रहने की चेष्टा करेगा वही मोक्ष का पात्र होगा।

१३ ससार मे वही मनुष्य परमात्मपद का अधिकारी हो सकता है जो ससार से उदासीन है।

१४. मोक्षमार्ग दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक है, अतः निरन्तर उसी मे स्थित रहो, उसी का ध्यान करो, उसी का चिन्तवन

करो, और उसी में निरन्तर विहार करो, यही मोक्ष प्राप्ति का सरल उपाय है।

१५. शरीर में ५ करोड़, ६८ लाख, ९९ हजार ५ सौ ८४ रोग रहते हैं। अतः जितनी चिन्ता इन रोगों के घर शरीर को स्वच्छ और सुरक्षित करने की लोग करते हैं, यदि उतनी चिन्ता शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा को स्वच्छ और सुरक्षित रखने की (रागद्वेष से बचाने की) करें तो एक दिन वे अवश्य ही नर से नारायण हो जायँगे इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

१६. विषय से निवृत होने पर तत्त्वज्ञान की निरन्तर भावना ही कुछ काल मे ससार लतिका का मूलोच्छेद कर देती है। केवल देहशोषण मोक्षमार्ग नहीं है।

१७. शान्ति ही मोक्ष का साम्राज्य है। बिना शान्ति के मोक्षमार्ग होना असम्भव है।

१८. जहाँ तक बने ससार और मोक्ष अपने ही में देखो, यही तत्त्वज्ञान तुम्हें सिद्धपद तक पहुँचा देगा।

१९. ससारी और मुक्त ये दोनों ही आत्मा की विशेष अवस्थाएँ हैं। इनमें से वह अवस्था, जो आत्मा को आकुलता उत्पन्न करती है ससार है और दूसरी अवस्था जो निराकुलता की जननी है मोक्ष है। यदि इस भयङ्कर दुःखमय ससार से छूटना चाहते हो तो उसमें परिभ्रमण करानेवाले भाव को छोड़ो, उसके छोड़ने से ही सुखदा अवस्था (मुक्तावस्था) प्राप्त हो जायगी।

२०. निष्कपट होकर जो काम करता है वही मोक्षमार्ग का पात्र होता है।

२१. भेष में मोक्ष नहीं, मोक्ष तो आत्मा का स्वतन्त्र परिणमन है। पर पर पदार्थ का ससर्ग छोड़ो यही मोक्ष का साधक है।

२२. मोक्षमार्ग मन्दिर में नहीं, मसजिद में नहीं, गिरजाघर मे नहीं, पर्वत-पहाड़ और तीर्थराज में नहीं, इसका उदय तो आत्मा में है!

२३. चित्तवृत्ति को स्थिर रखना मोक्ष प्राप्ति का प्रथम उपाय है।

२४. आत्मा की शुद्ध अवस्था का नाम मोक्ष है।

२५ मोक्षमार्ग पर के आश्रय से सदा दूर रहा है, रहता है और रहेगा।

२६ मोक्षमार्ग में वही पुरुष गमन कर सकता है जो सिहवृत्ति का धारी हो।

२७ जिन भाग्यशाली वीरों ने पराश्रितपने की भावना को पृथक् किया वे ही वीर अल्पकाल में मोक्षमार्ग के पात्र होते हैं।

२८. जिसकी प्रवृत्ति हर्ष और विषाद से परे है वही मुक्ति का पात्र है।

२९. वही मनुष्य ससार से मुक्ति पावेगा जो अपने गुण दोषों की आलोचना करता हुआ गुणों की वृद्धि और दोषों की हानि करने की चेष्टा करने में अपना उपयोग लगाता रहेगा।

३० निशङ्क रहना ही मोक्ष पथिक का प्रधान सहारा है।

३१. जो वर्तमान मे पूतात्मा है वही मोक्षमार्ग का अधिकारी है। सम्पत्ति पाकर भी मोक्षमार्ग का लाभ जिसने लिया उसी नररत्न का मनुष्य जन्म सफल है।

३२. मोक्षलिप्सा मोक्ष की साधक नहीं किन्तु लिप्सा की निवृत्ति ही मोक्ष की साधक है।

३३ शुभोपयोग के त्यागने से शुद्धोपयोग नहीं होता। किन्तु शुभोपयोग में जो मोक्षमार्ग की कल्पना कर रखी है उसके त्याग और राग-द्वेष की निवृत्ति से शुद्धोपयोग होता है। यही परिणाम मोक्षमार्ग का साधक है।

३४ जिसका आचरण आगमविरुद्ध है वह बाह्य में कितना ही कठिन तपश्चरण क्यों न करे मोक्षमार्ग का साधक नहीं हो सकता।

३५. समताभाव ही मोक्षाभिलाषी जीवों का मुख्य कर्तव्य है और सब शिष्टाचार है।

३६ वास्तव में रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) ही मोक्ष का एक मार्ग है।

रत्नत्रय

१ यदि रत्नत्रय की कुशलता हो जावे तब यह सब व्यवहार अनायास छूट जावे ।

२ निरन्तर कषायों की प्रचुरता से रत्नत्रय परिणति आत्मीय स्वरूप को प्राप्त करने में असमर्थ रहती है। जिस दिन वह अपने स्वरूप के सन्मुख होगी अनायास कषायों की प्रचुरता का पता न लगेगा ।

३ जहाँ आत्मीय भाव सम्यक् भाव को प्राप्त हो जाता है वहाँ मिथ्यात्व को अवकाश नहीं मिलता । कषायों की तो कथा ही व्यर्थ है। जिस सिंह के समक्ष—गजेन्द्र भी नतमस्तक हो जाता है वहाँ स्याल गीदड़ों की क्या कथा ?

४ जो जीव दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित हो रहा है उसी को तुम स्वसमय जानो । और इसके विपरीत जो पुद्गल कर्म प्रदेशों में स्थित है उसे पर समय जानो । जिसकी ये दो अवस्थायें हैं उसे अनादि अनन्त सामान्य जीव समझो। केवल रागद्वेष की निवृत्ति के अर्थ चारित्र की उपयोगता है ।

५ मुख्यतया अपनी आत्मा की कल्याण जननी रत्नत्रयी की सेवा करो । संसार के प्राणियों की अनुकूलता प्रतिकूलता पर अपने उपयोग का दुरुपयोग मत करो ।

६. धर्म की रक्षा करनेवाले रत्नत्रयधारी पवित्र आत्मा होते हैं। उन्हींके वाक्य आगम रूप होकर इतर पुरुषों को धर्म-लाभ कराने में निमित्त होते हैं।

७ सम्यग्दृष्टि जीव का अभिप्राय इतना निर्मल है कि वह अपराधी जीव का अभिप्राय से बुरा नहीं चाहता। उसके उपभोग क्रिया होती है इसका कारण यह है कि दर्शन मोह के उदय से बलात् उसे उपभोग क्रिया करनी पड़ती है। एतावता उसके विरागता नही है, ऐसा नहीं कह सकते।

श्रद्धा

१ जो मनुष्य बुद्धिपूर्वक श्रद्धागुण को अपनायेगा उसे कोई भी शक्ति संसार में नहीं रोक सकती।

२ शुद्ध आत्मतत्त्व की उपासना का मूल कारण सम्यग्दर्शन ही है क्योंकि यथार्थ वस्तु का परिज्ञान सम्यग्ज्ञानी को ही होता है।

३. केवल श्रद्धा गुण के विकाश से कल्याण उदय में आता है। इसके होनेपर अन्य गुणों का विकाश अनायास हो जाता है।

४—जिस तरह रोगी मनुष्य लंघन शुद्ध होने के बाद नीरोग हो जाता है और पथ्यादि सेवन कर अपनी अशक्तता को दूर करता हुआ एक दिन पूर्ण बलिष्ठ हो जाता है, उसी तरह सम्यग्दृष्टि आत्मा दर्शन मोह का अभाव होने पर नीरोग हो जाता है और क्रम से श्रद्धा का विषय लाभ करता हुआ एक दिन अपने अनन्त सुख का भोक्ता होता है।

५ कुछ भी करो श्रद्धा न छोड़ो। श्रद्धा ही संसरातीत अवस्था की प्राप्ति में सहायक होती है। श्रद्धा बिना आत्मतत्त्व को उपलब्धि नहीं होती।

६. जिन जीवों को सम्यग्दर्शन हो गया है उन्हें साता असाताका उदय चञ्चल नहीं करता।

७. जिन्हें दीर्घ संसार से भय है उन्हें श्रद्धा गुण को कलङ्कित नहीं करना चाहिए।

८. श्रद्धा के सद्भाव में शुभ प्रवृत्ति को अनात्मीय जान उसमें उपादेय बुद्धि करना योग्य नहीं। शुभ प्रवृत्ति हो, होने दो, उसमें कर्तृत्व भाव न रक्खो।

९. मुख्यतया स्वाध्याय में भी हमारी दृढ़ श्रद्धा ही शिक्षक का कार्य करती है।

१०. यह स्पष्ट है कि जिनमें दृढ़ श्रद्धा की न्यूनता है वे देवादि का समागम पाकर भी आत्म सुख से वञ्चित रहते हैं। अतः सर्वप्रथम हमारा मुख्य लक्ष्य श्रद्धा की ओर होना चाहिये।

११ श्रद्धा से जो शान्ति मिलती है उसी का आस्वाद लेकर सतोष करो।

१२. "ससार के दुःखों से सब भयभीत हैं" इसमे कुछ तत्त्व नहीं। तत्त्व तो श्रद्धापूर्वक उपाय के अनुकूल यथाशक्ति निवृत्ति मार्ग पर चलने में है।

१३. यों तो जो कुछ सामग्री हमारे पास है वह सब कर्म-जन्य है। परन्तु श्रद्धा वस्तु कर्मजन्य नहीं। उसकी उत्पत्ति कर्मों के अभाव में ही होती है। इसकी दृढ़ता ही ससार की नाशक है।

१४ आत्मविषयक श्रद्धा ही इन आपत्तियों से पार करेगी, श्रद्धा ही तो मोक्षमहल का प्रथम सोपान है। उसकी आज्ञा है कि यदि परिग्रह से छूटना चाहते हो तो संकोच छोड़ो, निर्द्वन्द्व बनो।

१५. श्रद्धा की निर्मलता ही मोक्ष का कारण है।

ज्ञान

१ ज्ञान शून्य जीवन सार शून्य तरुवत् निरर्थक है।

२. ज्ञान मोक्ष का हेतु है। यदि वह नहीं है तब व्रत, नियम, शील और जप तप के होने पर भी अज्ञानी जीवों को मोक्ष लाभ नहीं हो सकता।

३ भोजन का उपयोग क्षुधानिवृत्ति के अर्थ है एवं ज्ञान का उपयोग रागादिनिवृत्ति के अर्थ है केवल अज्ञाननिवृत्ति ही नही, अज्ञान निवृत्ति रूप तो वह स्वयं है।

४. आंख वही है जिसमे देखने की शक्ति हो अन्यथा उसका होना न होने के तुल्य है। इसी तरह ज्ञान वही ह जो स्वपर विवेक करा देवे, अन्यथा उस ज्ञान का कोई मूल्य नही।

५ जो भोजन एक दिन अमृत माना जाता था आज वह विपरूप हो गया। जो वैय्यावृत्त एक दिन आभ्यन्तर तप की गणना मे था तथा निर्जरा का साधक था आज वही तप ग्लानि मे गणनीय हो गया। यह सब हमारी अज्ञानता का विलास है।

६. संसार मे प्राणियों को नाना प्रकार के अनिष्ट सम्बन्ध होते हैं और मोहोदय की बलवत्ता से वे भोगने पड़ते हैं। किन्तु जो ज्ञानी जीव है वे मोह के क्षयोपशम से उन्हें जानते हैं, भोगते नहीं। अतएव वही बाह्य सामग्री उन्हें कर्मबन्ध मे

निमित्त नहीं पड़ती प्रत्युत मूर्छा के अभाव में निर्जराका कारण होती है।

७. मिश्री शब्द से मिश्री पदार्थ का परोक्ष ज्ञान होता है। इतने पर भी यदि कोई उसे प्राप्त कर खाने की चेष्टा न करे तब वह अनन्त काल में भी मिश्री के स्वाद का भोक्ता नहीं हो सकता। इसी तरह श्रुतज्ञान के द्वारा वस्तुस्वरूप को जानकर भी यदि कोई तदात्मक होने की चेष्टा न करे तब कभी भी ज्ञानात्मक आत्मा उसके स्वाद का पात्र नहीं हो सकता।

८ ज्ञानी वही है जो उपद्रवों से चलायमान न हो। स्यालिनी ने सुकुमाल स्वामी का उदर विदारण करके अपने क्रोध की पराकाष्ठा का परिचय दिया किन्तु सुकुमाल स्वामी उस भयकर उपसर्ग से विचलित न होकर उपशम श्रेणी द्वारा सर्वार्थसिद्धि के पात्र हुए। अतः मैं उसी को सम्यग्ज्ञानी मानता हूँ जिसको मान अपमान से कोई हर्ष विषाद नहीं होता।

९ आगम ज्ञान मुख्य वस्तु है। पर पदार्थ का ज्ञाता द्रष्टा रहना ही तो आत्मा का स्वभाव है और उसकी व्यक्तता मोह के अभाव में होती है, अत. आवश्यकता उसी के कृश करने की है। यथार्थ ज्ञान तो सम्यग्दर्शन के होते ही हो जाता है।

१०. ज्ञान का फल वास्तव में उपेक्षा है। उसकी जिसके सत्ता है वही ज्ञानी है।

११. उदर पोषण के लिये विद्या का अर्जन नहीं। उदर पोषण तो काक मार्जार आदि भी कर लेते हैं। मनुष्य जन्म पाकर विद्यार्जन कर यदि उदर पोषण तक ही सीमा रही तब मनुष्य जन्म की क्या विशेषता रही? मनुष्य जन्म तो मोक्ष का साधक है।

१२ ज्ञान का वही विकाश उत्तम है जो सम्यक् भाव से अलंकृत हो।

१३ जब सम्यग्ज्ञान आत्मा में हो जाता है तब पर पदार्थ का सम्बन्ध न छूटने पर भी वह छूटा सा हो जाता है।

१४. सम्यग्ज्ञानी जीव मिथ्यादृष्टि की तरह अनन्त संसार के कारणों से कभी भी आकुलित नहीं होता।

१५. इस काल में ज्ञानार्जन ही आत्मगुण का वास्तविक पोषक है।

१६ जिनको सम्यग्ज्ञान हो गया वही ज्ञानचेतना के स्वामी हैं, और वही निराकुल सुख के भोक्ता हैं।

१७ स्वप्नावस्था मे जो भ्रमजन्य वेदना होती है उसका निवारण जाग्रत् अवस्था में स्वयमेव हो जाता है, उसी तरह अज्ञानावस्था मे जो दुःख होता है उसका निवारण ज्ञानावस्था में स्वयमेव हो जाता है।

१८ जिसे अंशमात्र भी निर्मल ज्ञान हो गया वह कभी संसार यातना का पात्र नहीं हो सकता।

१९ ज्ञान वह है जिससे अज्ञान भाव की निवृत्ति हो।

२० संसार में जो बड़े बड़े ज्ञानी जन हैं वे ज्ञानार्जन इसीलिये करते हैं कि उनके अज्ञान जन्य आकुलता का आविर्भाव न हो।

२१ ज्ञान ही सभी गुणों का प्रकाशक है। इसके बिना मनुष्य की गणना बिना सींग के बैल या गर्दभों में की जाती है। ज्ञान का विकाश होते ही मनुष्य की गणना ज्ञानियों में होने लगती है, जिसके द्वारा संसार का महोपकार होता है।

चारित्र

१. आत्मा के स्वरूप में जो चर्या है उसी का नाम चारित्र है, वही वस्तु का स्वभावपने से धर्म है।

२ बाह्य व्रत का उपयोग चारित्र के अर्थ है। यदि वह न हुआ तब जैसा व्रती वैसा अव्रती।

३ मन्द कषाय व्रत का फल नहीं, वह तो मिथ्या गुणस्थान मे भी हो जाता है। व्रत का फल तो वास्तव में चारित्र है, उसी से आत्मा में पूर्ण शान्ति का लाभ होता है।

४. पर्याय की सफलता सयम से है। मनुष्य भव में देव पर्याय से भी उत्तमता इसी सयम की मुख्यता से है।

५ गृहस्थ भी संयम का पात्र है। देश सयम भी तो सयम ही है। हम व्यर्थ ही सयम का भय करते हैं। अणुव्रत का पालन तो गृहस्थ के ही होता है। परन्तु हम इतने भीरु और कायर हो गये हैं जो आत्महित से भी डरते हैं।

६. सयम का पालन करना कल्याण का प्रमुख साधन है।

७ ज्ञान का साधन प्रायः बहुत स्थानों पर मिल जायेगा, परन्तु चारित्र का साधन प्रायः दुर्लभ है। उसका सम्बन्ध आत्मीय रागादि निवृत्ति से है। वह जब तक न हो यह बाह्य आचरण दम्भ है।

८. जीव संसार समुद्र के तारनेवाले चारित्र का पात्र होता है। चारित्र बिना मुक्ति नहीं, मुक्ति बिना सुख नहीं।

९. अन्तरङ्ग श्रद्धापूर्वक विशुद्धता का उदय जिस आत्मा में होता है वह जीव चारित्र का उत्तरकाल में अधिकारी होता है अतः जिन जीवों को आत्मकल्याण करना है वे जीव निर्मोह होकर व्रत का पालन करें।

१०. शुभोपयोगिनी क्रिया पुण्यजननी है, उसे वैसा ही मानना किन्तु न करना यह कहाँ का सिद्धान्त है? मन्द कषाय का भी तो बाह्य प्रवृत्ति से सम्बन्ध है। इसका सर्वथा निषेध बुद्धि में नहीं आता। अतः जिन्हें आत्महित करना है उन्हें बाह्य में अपनी प्रवृत्ति निर्मल करनी ही होगी। बादाम के ऊपरी भाग के भग किये बिना बिजी का छिलका दूर नहीं हो सकता। जबतक हमारी प्रवृत्ति भोजनादि क्रियाओं में आगमोक्त न होगी केवल वचनबल और पाण्डित्य के बल पर कल्याण नहीं हो सकता।

११. यदि आगमज्ञान संयमभाव से रिक्त है तब उससे कोई लाभ नहीं।

१२. स्वेच्छाचारी मनुष्यों के द्वारा कल्याण का होना बहुत दूर है। विषमिश्रित क्षीरपाक मृत्यु ही का कारण होता है। कहने का यह तात्पर्य है कि धर्मोपदेश उसी को लग सकता है जो श्रद्धावान् और संयमी हो।

१३. वही व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी है जो श्रद्धा के अनुकूल ज्ञान और चारित्र का धारी हो।

१४. शान्ति का स्वाद तभी आ सकता है जब श्रद्धा के साथ साथ चारित्र गुण की उद्भूति हो।

१५. कषायों के कृश करने का निमित्त चरणानुयोग द्वारा निर्दिष्ट यथार्थ आचरण का पालन करना है।

१६. चरणानुयोग ही आत्मा को अनेक प्रकार के रोगों से बचाने मे रामबाण औषधि का कार्य करता है।

१७. जिनकी प्रवृत्ति चरणानुयोग द्वारा निर्मल हो गई है वे ही स्वपर कल्याण कर सकते हैं।

१८ जिसके इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग में धीरता रहती है वही सयम का पात्र है।

१९. चारित्र का फल रागद्वेषनिवृत्ति है। यहाँ चारित्र से तात्पर्य चरणानुयोग द्वारा प्रतिपाद्य देशचारित्रऔर सकलचारित्र से है। जो कि कषाय की निवृति रूप है प्रवृति रूप नहीं। उसका लाभ जिस काल में कषाय की कृशता है उसी काल में है।

२० ससार मे वही जीव नीरोग रहता है जो अपना जीवन चारित्र पूर्वक बिताता है।

२१. वास्तव दृष्टि से चारित्र न प्रवृत्ति रूप है और न निवृत्ति रूप ही। वह तो विधि निषेध से परे अपरिमित शान्ति का दाता आत्मा का परिणाम मात्र है।

२२. रागादि निवृति के अर्थ चरणानुयोग है। केवल पदार्थ का निरूपण करने मात्र से प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती।

२३ चारित्र के विकाश मे आगम ज्ञान, साधु समागम, और विद्वानों का सम्पर्क आदि किसी की आवश्यकता नहीं। वह तो ज्ञानी जीव की साहजिक प्रकृति है।

२४ चारित्र शून्य ज्ञान नपुंसक के लिये नवोढा स्त्री और कजूस के लिये वृहद् धन राशि के समान निरर्थक है।

२५ अज्ञान निवृत्तिमात्र से आत्मा शान्ति का पात्र नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं कि ज्ञान कोई लाभ दायक वस्तु नही किन्तु उसका कार्य अज्ञान निवृत्ति तो उसके होते ही हो जाता है। परन्तु जिस तरह सूर्य के उदय से मार्ग दर्शन हो जाने पर भी अभिलषित स्थान की प्राप्ति गमन से ही होती है उसी तरह ज्ञान से मोक्ष पथ का ज्ञान हो जाने पर भी उसकी प्राप्ति चारित्र से ही होती है।

२६ जबतक चारित्र गुण का निर्मल परिणमन न होगा तब तक रागद्वेष की कलुषता नहीं छूट सकती।

२७. वही ज्ञान प्रशसनीय है जो चारित्र से युक्त है। चारित्र ही साक्षान्मोक्षमार्ग है।

२८ उपयोग की निर्मलता ही चारित्र है।

स्वाध्याय

१ स्वाध्याय संसार सागर से पार करने को नौका के समान है, कषाय अटवी को दग्ध करने के लिये दावानल है, स्वानुभव समुद्र की वृद्धि के लिये पूर्णिमा का चन्द्र है, भव्य कमल विकशित करने के लिये भानु है, और पाप उलूक को छिपाने के लिये प्रचण्ड मार्तण्ड है।

२. स्वाध्याय ही परम तप है, कषाय निग्रह का मूल कारण है, ध्यान का मुख्य अङ्ग है, शुक्ल ध्यान का हेतु है, भेदज्ञान के लिये रामबाण है, विषयों में अरुचि कराने के लिये मलेरिया सदृश है, आत्मगुणोंका संग्रह करने के लिये राजा तुल्य है।

३ सत्समागम से भी स्वाध्याय विशेष हितकर है। सत्समागम आश्रव का कारण है जब कि स्वाध्याय स्वात्माभिमुख होने का प्रथम उपाय है। सत्समागम में प्रकृति विरुद्ध भी मनुष्य मिल जाते हैं परन्तु स्वाध्याय में इसकी भी सम्भावना नहीं, अतः स्वाध्याय की समानता रखनेवाला अन्य कोई नहीं।

४ स्वाध्याय की अवहेलना करने से ही हम दैन्यवृत्ति के पात्र और तिरस्कार के भाजन हुए हैं।

५. कल्याण के मार्ग में स्वाध्याय प्रधान सहकारी कारण है।

६. स्वाध्याय से उत्कृष्ट और कोई तप नहीं।

७ स्वाध्याय आत्म शान्ति के लिये है, केवल ज्ञानार्जन के लिये नहीं। ज्ञानार्जन के लिये तो विद्याध्ययन है। स्वाध्याय तप है। इससे सवर और निर्जरा होती है।

८ स्वाध्याय का फल निर्जरा है, क्योंकि यह अन्तरङ्ग तप है। जिनका उपयोग स्वाध्याय में लगता है वे नियम से सम्यग्दृष्टि है।

९ आगमाभ्यास ही मोक्षमार्ग मे प्रधान कारण है। वह होकर भी यदि अन्तरात्मा से विपरीताभिप्राय न गया तब वह आगमाभ्यास अन्धे के लिये दीपक की तरह व्यर्थ है।

१० शास्त्राध्ययन में उपयुक्त आत्मा कर्म बन्धन से शीघ्र मुक्त होता है।

११ सम्यग्ज्ञान का उदय उसी आत्मा के होता है जिसका आत्मा मिथ्यात्व कलङ्क कालिमा से निर्मुक्त हो जाता है। वह कालिमा उसी की दूर होती है जो अपने को तत्त्व भावनामय बनाने के लिये सदा स्वाध्याय करता है।

१२ शारीरिक व्याधियों की चिकित्सा डाक्टर और वैद्य कर सकते है लेकिन सांसारिक व्याधियों की रामबाण चिकित्सा केवल श्री वीतराग भगवान की विशुद्ध वाणी ही कर सकती है।

१३ स्वाध्याय का मर्म जानकर आकुलता नहीं होनी चाहिए। आकुलता मोक्षमार्ग में साधक नहीं, साधक तो निराकुलता है।

१४. स्वाध्याय परम तप है।

१५. मनुष्य को हितकारिणी शिक्षा आगम से मिल सकती है या उसके ज्ञाता किसी स्वाध्यायप्रेमी के सम्पर्क से मिल सकती है।

१६ तात्त्विक विचार की यही महिमा है कि यथार्थ मार्ग पर चले।

१७. एक वस्तु का दूसरी वस्तु से तादात्म्य नही। पदार्थ की कथा छोड़ो, एक गुण का अन्य गुण से और एक पर्याय का अन्य पर्याय से कोई सम्बन्ध नहीं। इतना जानते हुए भी पर के विभावों द्वारा की गई स्तुति निन्दा पर हर्ष विषाद करना सिद्धान्त पर अविश्वास करने के तुल्य है।

१८. जो सिद्धान्तवेत्ता हैं वे अपथ पर नहीं जाते। सिद्धान्तवेत्ता वही कहलाते हैं जिन्हें स्वपर ज्ञान है। तथा वे ही सच्चे वीर और आत्मसेवी हैं।

१६. शास्त्रज्ञान और बात है और भेदज्ञान और बात है। त्याग भेदज्ञान से भी भिन्न वस्तु है। उसके बिना पारमार्थिक लाभ होना कठिन है।

२० कल्याण के इच्छुक हो तो एक घंटा नियम से स्वाध्याय में लगाओ।

२१ काल के अनुसार भले ही सब कारण विरुद्ध मिलें फिर भी स्वाध्यायप्रेमी तत्त्वज्ञानी के परिणामों में सदा शान्ति रहती है। क्योंकि आत्मा स्वभाव से शान्त है, वह केवल कर्म कलङ्क द्वारा अशान्त हो जाता है। जिस तत्त्वज्ञानी जीव के अनन्त ससार का कारण कर्म शान्त हो गया है वह ससार के वास्तविक स्वरूप को जानकर न तो किसी का कर्ता बनता है और न भोक्ता ही होता है, निरन्तर ज्ञानचेतना का जो फल है उसका

पात्र रहता है। उपयोग उसका कहीं रहे परन्तु वासना इतनी निर्मल है कि अनन्त संसार का उच्छेद उसके हो ही जाता है। निरन्तर अपने को निर्मल रखिये, स्वाध्याय कीजिए, यही संसारबन्धन से मुक्ति का कारण है।

२२ यदि वर्त्तमान में आप वीतरागता की अविनाभाविनी शान्ति चाहें तब असम्भव है क्यों कि इस काल में परम वीतरागताकी प्राप्ति होना दुर्लभ है। अतः जहाँ तक बने स्वाध्याय व तत्त्वचर्चा कीजिए।

२३ उपयोग की स्थिरता मे स्वाध्याय मुख्य हेतु है। इसीसे इसका अन्तरङ्ग तप मे समावेश किया गया है। तथा यह संवर और निर्जरा का भी कारण है। श्रेणी में अल्प से अल्प आठ प्रवचन मात्रिका का ज्ञान अवश्य होता है। अवधि और मन पर्यय से भी श्रुतज्ञान महोपकारी है। यथार्थ पदार्थ का ज्ञान इसके ही बल से होता है। अतः सब उपायों मे इसकी वृद्धि करना यही मोक्षमार्ग का प्रथम सोपान है।

२४ जिस तरह व्यापार का प्रयोजन आर्थिक लाभ है उसी तरह स्वाध्याय का प्रयोजन शान्तिलाभ है।

२५. अन्तरङ्ग के परिणामों पर दृष्टिपात करने से आत्मा की विभाव परिणति का पता चलता है। आत्मा परपदार्थों की लिप्सा से निरन्तर दुखी हो रहा है, आना जाना कुछ भी नहीं। केवल कल्पनाओं के जाल मे फंसा हुआ अपनी सुध में बेसुध हो रहा है। जाल भी अपना ही दोष है। एक आगम ही शरण है यही आगम पंचपरमेष्ठी का स्मरण कराके विभाव से आत्मा की रक्षा करनेवाला है।

२४. स्वाध्याय तप के अवसर में, जो प्रतिदिन का कार्य है, यह ध्यान नहीं रहता कि यह कार्य उत्तम है।

२७. स्वाध्याय करते समय जितनी भी निर्मलता हो सके करनी चाहिये।

२८. स्वाध्याय से बढ़कर अन्य तप नहीं। यह तप उन्हीं के हो सकता है जिनके कषायों का क्षयोपशम हो गया है। क्योंकि बन्धन का कारण कषाय है। कषायका क्षयोपशम हुए बिना स्वाध्याय नहीं हो सकता, केवल ज्ञानार्जन हो सकता है।

२६ स्वाध्याय का फल रागादिकों का उपशम है। यदि तीव्रोदय से उपशम न भी हो तब मन्दता तो अवश्य हो जाती है। मन्दता भी न हो तब विवेक अवश्य हो जाता है। यदि विवेक भी न हो तब तो स्वाध्याय करनेवाले न जाने और कौन सा लाभ ले सकेंगे? जो मनुष्य अपनी राग प्रवृति को निरन्तर अवनत कर तात्त्विक सुधार करने का प्रयत्न करता है वही इस व्यवहार धर्म से लाभ उठा सकता है। जो केवल ऊपरी दृष्टि से शुभोपयोग मे ही संतोष कर लेते हैं वे उस पारमार्थिक लाभ से वञ्चित रहते हैं।

३० सानन्द स्वाध्याय कीजिये. परन्तु उसके फलस्वरूप रागादि मूर्च्छा की न्यूनता पर निरन्तर दृष्टि रखिये।

३१. आगम ज्ञान का इतना ही मुख्य फल है कि हमें वस्तुस्वरूप का परिचय हो जावे।

३२. शास्त्र ज्ञान का यही अभिप्राय है कि अपने को पर से भिन्न समझा जावे। जब मनुष्य नाना प्रयत्नों में उलझ जाता है तब वह लक्ष्य से दूर हो जाता है। वैसे तो उपाय अनेक हैं पर जिससे रागद्वेष की श्रृंखला टूट जावे और आत्मा केवल

ज्ञाता द्रष्टा बना रहे, वह उपाय स्वाध्याय ही है। निरन्तर मूर्च्छा के बाह्य कारणों से अपने को रक्षित रखते हुए अपनी मनोभावना को पवित्र बनाने के लिए शास्त्र स्वाध्याय जैसे प्रमुख साधन को अवलम्बन बनाओ।

३३. शास्त्र स्वाध्याय से ज्ञान का विकास होता है और जिनके अभिप्राय विशुद्ध हैं उनके यथार्थ तत्त्वों का बोध होता है।

३४. इस काल में स्वाध्याय से ही कल्याणमार्ग की प्राप्ति सुलभ है।

३५. स्वाध्याय को तपमें ग्रहण किया है अत. स्वाध्याय केवल ज्ञान का ही उत्पादक नहीं किन्तु चारित्र का भी अङ्ग है।

सफलता के साधन

सफलता के साधन

कार्यों की विविधता के समान सफलता भी अनेक तरह की है। परन्तु उन सभी सफलताओं का उद्देश्य "जीवन सुखी रहे" यही है, और उसके साधन ये हैं—

१. सदा सत्य बोलो, किसी के प्रभाव, बहकाव या दबाव में आकर झूठ मत बोलो।

२. निर्भीकता से रहो

३. किसी से आर्थिक या किसी भी तरह के लाभ की आशा मत करो।

४. किसी से यश की आशा मत करो।

५. किसी से अन्न, वस्त्र, या किसी भी पदार्थ की याचना मत करो।

६. जिस कार्य के लिये हृदय सहमत हो, यदि वह शुभ कार्य है तो अवश्य करो।

७. स्वीय रागादिक मटने की चेष्टा करो।

८. परकी प्रशंसा या निन्दा से स्वरूप परान्मुखता न हो जावे इस ओर निरन्तर सतर्क रहो।

९ मन और इन्द्रियों को सदा अपने वश में रखो।

१० मन के अनुकूल होनेपर भी प्रकृत्ति के प्रतिकूल कोई भी कार्य मत करो।

११ कहने की प्रकृति छोड़ो, करने का अभ्यास करो।

१२. किसी कार्य को देखकर भय मत करो। उपाय से महान् से महान् भी कार्य सहज में हो जाते हैं।

१३ जो कुछ करना चाहते हो धीरता और सतत प्रयत्न शीलता से करो।

१४ जिस कार्य से आत्मा में आकुलता न हो उस कार्य को ही कर्तव्यपथ मे लाने का प्रयत्न करो।

१५ किसीको मत सताओ और दूसरों को अपने समान समझो।

सदाचार

१. अनुभवी वक्ताओं के भाषण, तथा सम्पूर्ण शास्त्रों का मूल सिद्धान्त एकमात्र सदाचारपूर्वक रहना सिखाता है।

२. सदाचार के बिना सुख पानेका यत्न करना आकाश के पुष्पावचयन के सदृश है।

३ जिस तरह मकान पक्का बनाने के लिये नींव का पक्का होना आवश्यक है, उसी तरह उज्वल भविष्य निर्माण के लिये (आदर्श जीवन के लिये) बालजीवन के सुसंस्कार सदाचारादि का सुदृढ़ होना आवश्यक है।

४. सभ्यता और असभ्यता विद्या से नहीं जानी जाती। चाहे संस्कृत भाषा का विद्वान् हो, चाहे हिन्दी, अंग्रेजी या और किसी भाषा का विद्वान् हो, जो सदाचारी है वह सभ्य है, जो असदाचारी है वह असभ्य है। प्रत्युत बिना पढ़े लिखे भी जो सदाचारी हैं वे सभ्य हैं और बुद्धिमान भी यदि सदाचारी नहीं तो असभ्य हैं।

५. सदाचार ही जीवन है। इसकी निरन्तर रक्षा करने का प्रयत्न करो।

तीन बल

१ सांसारिक आत्मा में तीन बल होते हैं—१ कायिक २ वाचनिक और ३ मानसिक। जिनके वे वलिष्ठ होते हैं वे ही जीवन का वास्तविक लाभ ले सकते हैं।

कायबल—

२. जिनका कायवल श्रेष्ठ है वे ही मोक्ष पथ के पथिक बन सकते हैं। इस प्रकार जब मोक्षमार्ग में भी कायबल की श्रेष्ठता आवश्यक है तब सांसारिक कार्य इसके बिना कैसे हो सकते हैं।

३. प्राचीन महापुरुषों ने जो कठिन से कठिन आपत्तियां और उपसर्ग सहन किये वे। कायबल की श्रेष्ठता पर ही किये, अतः शरीर को पुष्ट रखना आवश्यक है, किन्तु इसी के पोषण में सब समय न लगाया जावे। दूसरे की रक्षा स्वात्मरक्षा की ओर दृष्टि रखकर ही की जाती है, अपने आपको भूलकर नहीं।

वचनबल—

४. जिनमें वचन बल था उन्हीं के [द्वारा आज तक मोक्ष मार्ग की पद्धति का प्रकाश हो रहा है, और उन्हीं की अकाट्य

युक्तियों और तर्कों द्वारा बड़े बड़े वादियों का गर्व दूर हुआ है।

५. वचन बल की ही ताकत है कि एक वक्ता व गायक अपने भाषण या गायन से श्रोताओं को मुग्ध करके अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। जिनके वचनबल नहीं वह मोक्षमार्ग की प्राप्ति करने में अक्षम होता है।

मनोबल—

६ मनोबल में वह शक्ति है जो अनन्त जन्मार्जित कलङ्कों की कालिमा को एक क्षण में पृथक् कर देती है।

७ जिससे आत्महित की सम्भावना है उसे कष्ट मत दो। आत्महित का मूल कारण सद्विचार है और उसका उत्पादक मन है, अतः उसे प्रत्येक कार्य करने से रोको। यदि वह दुर्बल हो जायगा तो आत्महित करने में अक्षम हो जाओगे।

८. सब दोषों में प्रबल दोष मन की दुर्बलता है। जिनका मन दुर्बल है वे अति भीरु हैं और भीरु मनुष्य के लिए ससार में कोई स्थान नहीं।

९ मनोबल की विशुद्धता का ही परिणाम है कि जिसके द्वारा यह प्राणी शुभ भावनाओं द्वारा अनुपम तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्धकर ससार का उद्धार करने में समर्थ होता है।

१०. अन्तरङ्ग तप में सर्वप्रथम मनोबल की बड़ी आवश्यकता है। मनोबल उसी का प्रशंसनीय है जो प्रपञ्च और बाह्य पदार्थों के संसर्ग से अपनी आत्मा को दूर रखता है।

११. जिनके तीनों बल श्रेष्ठ हैं वे इस लोक में सुखी हैं और परलोक में भी सुखी रहेंगे।

१२. संसार में जितने व्यापार हैं वे सब मनोबल पर अवलम्बित हैं। मनोबल ही बल है। इसके बिना असैनी जीवों मे सम्यग्दर्शन की योग्यता नहीं।

हमारा कर्त्तव्य—

वर्तमान मे हम लोग कषाय से दग्ध हो रहे हैं जिससे तीनों बलों को रक्षा का एक भी उपाय हमारे पास नहीं है। काय की ओर दृष्टिपात करने से यह अनायास समझ में आ जाता है कि हमने कायबल की तो रक्षा की ही नहीं शेष दो बलों की भी रक्षा नहीं की।

शारीरिक बल का कारण माता पिता का शरीर है। हमारी जाति के रिवाज ने बालविवाह, अनमेल विवाह, वृद्ध विवाह और कन्या विक्रय को जन्म दिया जिससे समाज का ही नहीं वरन धर्म का भी ह्रास हुआ। यदि ये कुरीतियाँ न होतीं तो बलिष्ठ सन्तति की वह परम्परा चलती जो दूसरों के लिए आदर्श होती और जिससे वचनबल और मनोबल की श्रेष्ठता की भी रक्षा होती।

जिस समाज में इन तीनों बलों की रक्षा नहीं की जाती वह समाज जीवित रहते हुए भी मृतप्राय है। हमें आशा है कि सबका ध्यान इस ओर जायगा और वे अपनी सामाजिक, नैतिक तथा धार्मिक परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए निम्न विचारों को कार्य रूप में परिणत करेंगे—

१. बाल विवाह, अनमेल विवाह, वृद्ध विवाह और कन्याविक्रय या वरविक्रय जैसी घातक दुष्ट प्रथाओं का बहिष्कार करना।

२. माता पिता का आदर्श सदाचारी गृहस्थ होना।

३ अपने बालकों को सदाचारी बनाना।

४. सन्तति को सुशिक्षित बनाना।

५ बालकों में ऐसी भावना भरना जिससे वे बचपन से ही देश, जाति और धर्म की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझें।

कर्त्तव्य

१ मन में जितने विकल्प पैदा होते हैं उनमें से यदि सहस्रांश भी कार्य रूप में परिणत कर लिए जायें तो समझो कर्त्तव्यशीलता के सम्मुख हो गये ।

२ जो कर्तव्यपरायण होते हैं वे व्यर्थ विकल्प नहीं करते ।

३. यदि कर्तव्य की गाड़ी लाइन पर आ गई तो समझो अभीष्ट नगर पास है ।

४ स्वयं सानन्द रहो, दूसरों को कष्ट मत पहुंचाओ, जीवन को सार्थक बनाओ यही मानव जीवन का कर्त्तव्य है ।

५ यह जीव आज तक निमित्त कारणों की प्रधानता से ही आत्म-तत्त्व के स्वाद से वञ्चित रहा । अतः स्व की ओर ही दृष्टि रखकर श्रेयोमार्ग की ओर जाने की चेष्टा करना मुख्य कर्त्तव्य है ।

६ महर्षियों या आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट पथ का अनुसरण कर और अपनी मनोवृत्ति को स्थिर कर स्वार्थ या आत्मा की सिद्धि करना मनुष्यों का कर्तव्य होना चाहिये ।

उद्योग

१. जिस कार्य को मनुष्य करना चाहे वह हो सकता है परन्तु उसके कारणों के जोड़ने में अहर्निश प्रयत्न करना पड़ेगा। जबतक उद्योग नहीं, कार्य की सिद्धि असम्भव है।

२. प्रयास करना तब तक न छोड़ो जब तक अभीष्ट सिद्ध न हो जाय।

३. केवल कल्पना द्वारा उत्कर्षशील बनने की आशा छोड़ो, पुरुषार्थ करो तो जीवन में नवमङ्गल प्रभात अवश्य होगा।

४. नियमपूर्वक उद्योग से अल्पज्ञ भी ज्ञानी हो जाता है और अनियमित उद्योग से बहुज्ञानी भी अल्पज्ञ हो जाता है।

५. केवल मनोरथ करना कायरों का कर्त्तव्य है। कार्य सिद्धि के लिये मन, वचन और काय से प्रयत्नशील होना शूरवीरों का कर्त्तव्य है।

६. जो संकल्प करो उसे पूर्ण करने की चेष्टा करो। चेष्टा नाम प्रयत्न या उद्योग का है। प्रयत्न के बिना मनुष्य परसा हुआ भोजन भी नहीं कर सकता, तब अन्य कार्यों की सिद्धि तो दुस्कर है ही।

—(❀)—

धैर्य

१ कोई भी कार्य करो धीरता से करो, व्यग्र होने की आवश्यकता नहीं। यदि धैर्य्य गुण अपने पास है तब सभी गुणों का भण्डार अपने हाथ है।

२ प्रत्येक व्यक्ति को अपने उज्वल भविष्य के निर्माण के लिये धीरता, गम्भीरता तथा कार्यानुकूल प्रयत्नशीलता की महती आवश्यकता है। हम श्रेयस् प्राप्ति के लिए निरन्तर आकुल होते रहते हैं—'क्या करें ? कहाँ जावें ? किसकी सङ्गति करें ?' आदि तर्क जाल में अमूल्य मानव जीवन को व्यर्थ व्यतीत कर देते हैं अतः प्रत्येक मनुष्य को इस तर्क और संकल्प जाल को छोड़ रागद्वेष शत्रु की सेना का सामना करने के लिये धीर वीर बनना चाहिये।

३ धीरता गुण उन्हीं के होता है जो बलशाली और संसार से भयभीत हैं।

४ धीरता सुख की जननी है।

५ अधीरता ही कार्य की प्रतिरोधिका है। जो अधीर नही होते किन्तु निश्चल हैं, वे ही मोक्षमार्ग के जिज्ञासु और पथिक हैं।

६ यदि कोई आपको निर्दोष होने पर भी दोषी बना देवे

तब आपको धार्मिक कार्यों से विमुख नहीं होना चाहिये तथा विद्रोहियों के आरोप से उनके प्रति क्षुब्ध नहीं होना चाहिये। प्रत्युत आपत्तियों के आने पर धीरता के साथ पहले की अपेक्षा अधिक प्रयास उस कार्य को सफल बनाने का करना चाहिए इसी में भलाई है।

७ उतावली न करो धैर्य्य तुम्हारा कार्यसाधक है।

८ केवल वर्तमान परिणाम से उद्वेजित होकर अधीरता से काम मत करो, सम्भव है अधीरता से उत्तर काल में गिर जाओ।

९ विपत्ति के समय धीरता ही उपयोगिनी है। यद्यपि उस समय धैर्य्य धारण करना कठिन प्रतीत होता है परन्तु जो साहस से कार्य करते हैं उन्हें सभी विपत्तियाँ सरल हो जाती हैं।

१०. चित्त में धीरता गुण है तो कल्याण अवश्य होगा।

११ अधीर होकर ही मनुष्य अधिक दुःख के पात्र बनते हैं और उस अधीरता के द्वारा अपनी शक्ति को क्षीण करते करते जब एक दिन एकदम निर्बल हो जाते हैं तब कोई कार्य करने के योग्य नहीं रहते, निरन्तर संक्लेश परिणामों की प्रचुरता से दुःख ही दुःख का स्वप्न देखते रहते हैं।

१२ धीरता ही सब कार्यों का साधक है। अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त की गई धीरता ही ध्यान में सहकारी होती है। इसके बिना चित्त व्यग्र रहता है और जिसका चित्त व्यग्र है वह एक ज्ञेय में चित्त को स्थिर करने में असमर्थ है।

आत्म-समालोचना

१ अपने आप की समालोचना संसार बन्धन से मुक्ति का प्रधान कारण है।

२. आत्मगत दोषों को पृथक् करने की चेष्टा ही श्रेयस्करी है। अन्य की समालोचना केवल पर्यवसान में दु:संस्कार का ही हेतु है।

३. हम लोगों ने परपदार्थ की समालोचना में अपना हित समझ रक्खा है। परपदार्थ की अपेक्षा जो निज की समालोचना करते हैं वे ही परमपद के भागी होते हैं।

४ दूसरे की आलोचना करना सरल है किन्तु अपनी त्रुटि देखना विवेकी मनुष्य का कर्त्तव्य है।

५ पर की समालोचना से आत्महित होना दुर्लभ है।

६ जो अपनी समालोचना से नहीं घबड़ाते, अन्त में वे ही विजयी होते हैं।

७. दूसरे के द्वारा की गई समालोचना को धैर्यपूर्वक सुनने की आदत डालो और उससे लाभ उठाओ।

चित्त की एकाग्रता

१. चित्त वृत्ति को शान्त और एकाग्र करना ही परमपद पाने का उपाय है।

२ चित्तवृत्ति की स्थिरता परमतत्त्व जानने में सहायक है। परमतत्त्व का जानना और परमतत्त्व रूप होना दोनों भिन्न हैं, जानना कार्य क्षयोपशम से होता है और स्थिरता मोह की कृशता से होती है।

३. चित की चञ्चलता मोक्षमार्ग में बाधक और स्थिरता मोक्षमार्ग में साधक है।

४ चित्त की चञ्चलता से कार्यसिद्धि न कभी हुई, न हो सकती है।

५ चित्तवृत्ति को सब झंझटों से दूर कर उसे आत्मोन्मुख करने से ही कल्याण होगा।

६ चित्तवृत्ति निरोध का अर्थ विषयान्तर से चित्त हटा कर एक विषय में लगाना है और उसमें कषाय की कलुषता न होने देना है। क्योंकि कलुषता ही बन्ध की जननी है।

७. स्थिर भाव ही कार्य में सहायक होता है अतः जो कार्य करना इष्ट हो उसे दृढ़ अध्यवसाय से करने की चेष्टा करो।

८ जो कुछ करना चाहते हो उसे निश्चल चित्त से करो। सन्देह की तुला पर आरूढ़ होने की अपेक्षा नीचे रहना ही अच्छा है।

यदि चित्त को स्थिर रखने की अभिलाषा है तब—(१) पर पदार्थों के साथ सम्पर्क न करो। (२) किसी से व्यर्थ पत्र-व्यवहार न करो। (३) और न किसी से व्यर्थ बात करो। (४) मन्दिर जी में एकाकी जाओ। (५) किसी दानी की मर्यादा से अधिक प्रशंसा कर चारण बनने की चेष्टा मत करो, दान जो करेगा अपने हित की दृष्टि से करेगा, हम उसका गुण-गान करें सो क्यों ? गुणगान से यह तात्पर्य है कि आप उसे प्रसन्न कर अपनी प्रशंसा चाहते हो। इसका यह अर्थ नहीं कि किसी की स्तुति मत करो उदासीन बनो।

मानव धर्म

मानवधर्म

१. मानवता वह विशेष गुण है जिसके विना मानव मानव नहीं कहला सकता। मानवता उस व्यवहार का नाम है जिससे दूसरों को दुख न पहुँचे, उनका अहित न हो, एक दूसरे को देख कर क्रोध की भावना जागृत न हो। संक्षेप में सहृदता-पूर्ण शिष्ट और मिष्ट व्यवहार का नाम मानवता है।

२ मनुष्य वही है जो आत्मोद्धार में प्रयत्नशील हो।

३ मनुष्यता वही आदरणीय होती है जिसमें शान्तिमार्ग की अवहेलना न हो।

४ मनुष्य का सबसे बड़ा गुण सदाचारता और विश्वासपात्रता है।

५ मनुष्य वही है जो अपनी प्रवृत्ति को निर्मल करता है।

६ प्रत्येक वस्तु सदुपयोग से ही लाभदायक होती है। यदि मनुष्य पर्याय का सदुपयोग किया जावे तो देवों को भी वह सुख नहीं जो मनुष्य प्राप्त कर सकता है।

७. आत्मगौरव इसी में है कि विषयों की तृष्णा से बचा जाये, मानवता का मूल्य पहिचाना जाए।

८. वह मनुष्य मनुष्य नहीं जो नीरोग होने पर भी आत्म कल्याण से विमुख रहे।

९. चञ्चलता मानवता का दूषण है।

१०. मनुष्यजन्म प्राप्त करना सहज नहीं यदि इसकी सार्थकता चाहते हो तो अपने दैनिक कार्यों मे पूजा और स्वाध्याय को महत्त्व अवश्य दो, परस्पर तत्त्व चर्चा करो, कलह छोड़ो और सहनशील बनो।

११ मानव पर्याय की सार्थकता इसी में है कि आत्मा निष्कपट रहे।

१२. संसार में वे ही मनुष्य जन्म को सफल बनाने की योग्यता के पात्र हैं जो असारता में से सार वस्तु के पृथक् करने में प्रयत्नशील हैं।

१३ जिसने इस अमूल्य मानवजीवन से स्वपर शान्ति का लाभ न लिया उसका जन्म अर्कतूल के सदृश किस काम का ?

१४ मनुष्य वही है जो अपनी आत्मा को संसार दुःख से मुक्त करने की चेष्टा करे। संसार के दुःखहरण की इच्छा यदि अपने लक्ष्य को दृष्टि मे रख कर नहीं हुई, तब वह मानव महापुरुषों की गणना में नहीं आता।

१५ मनुष्य वही है जो अपने वचनों का पालन करे।

१६ सबसे ममत्व त्याग कर अपना भविष्य निर्मल करो।

१७ संसार स्नेहमय है। इस स्नेह पर जिसने विजय पा ली वही मनुष्य है।

१८. मनुष्य जन्म ही में आत्मज्ञान होता है, सो नहीं, चारों ही गति आत्मज्ञान में कारण है परन्तु संयम का पात्र यही मनुष्य जन्म है, अतः इसका लाभ तभी है जब इन परपदार्थों से ममता छोड़ी जावे।

१६. मनुष्य को यह उचित है कि वह अपना लक्ष्य स्थिर कर उसी के अनुकूल प्रवृत्ति करें। मेरी सम्मति से लक्ष्य वह होना चाहिये जिससे पर को पीड़ा न पहुँचे।

२०. मानव जाति सबसे उत्तम है, अतः उसका दुरुपयोग कर उसे संसार का कण्टक मत बनाओ। इतर जाति को कष्ट देकर मानव जाति को दानव कहलाने का अवसर मत दो।

२१. मनुष्यायु महान पुण्य का फल है। संयम का साधन इसी पर्याय में होता है। संयम निवृत्ति रूप है, और निवृत्ति का मुख्य साधन यही मानव शरीर है।

२२ ससार की अनन्तानन्त जीव राशि में मनुष्य संख्या बहुत थोडी है। किन्तु यह अल्प होकर भी सभी जीवराशियों में प्रधान है। क्योंकि मनुष्य पर्याय से ही जीव निज शक्ति का विकाश कर संसार परम्परा को, अनादि कालीन मार्मिक दुःख सन्तति को समूल नष्ट कर अनन्त सुखों का आधार परम-पद प्राप्त करता है।

२३. मनुष्य वही है जो पर की झंझटों से अपने को सुर-क्षित रखता है।

२४ मनुष्य वही प्रशस्त है जो दृढ़ाध्यवसायी हो।

२५ मनुष्य वही है जिसमे मनुष्यता का व्यवहार है। मनुष्यता वही है जिसके होने पर स्वपरभेद विज्ञान हो जावे। स्वपर भेद विज्ञान वही है जिसके सद्भाव में आत्मा सुमार्ग-गामी रहता है। सुमार्ग वही है जिससे आत्मपरणति निर्मल रहती है और आत्मनिर्मलता वही है जिससे मानव मान-वता का पुजारी कहलाता है।

२६. संयम का उदय इसी मानव पर्याय में होता है अतः संसार नाश भी इसी पर्याय में होता है। क्योंकि संयमगुण आत्मा को संसार के कारणभूत विषयों से निवृत्त करता है।
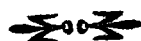
धर्म

१. धर्म का मूल आशय जाने बिना धार्मिक भाव तथा धर्मात्मा में अनुराग नहीं हो सकता।

२. आत्मा की उस निश्चल परणति का नाम धर्म है, जहाँ मोह और क्षोभ को स्थान नहीं।

३ धर्म की उत्पत्ति निष्कषाय भावों में है।

४. धर्म का लक्षण मोह और क्षोभ का अभाव है। जहाँ मोह और क्षोभ है वहाँ धर्म नहीं है।

५. यद्यपि मन्द कषाय के कामों में धर्म का व्यवहार होता है। पर वास्तव में स्वरूप लीनता का नाम ही धर्म है।

६. स्थानों में धर्म नहीं, पण्डितों के पास धर्म नहीं, त्यागियों के पास धर्म नहीं, धर्म तो निर्ग्रन्थ गुरुओं ने आत्मा मे ही बताया है। वह अपने ही पास है। उसे ढूढ़ने के लिए अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं।

७. धर्मात्मा जीव वही है जो कष्ट काल में भी धर्म न छोड़े।

८. जिनको धर्म पर श्रद्धा है उनके सभी उपद्रव दूर हो जाते हैं।

९. जहाँ धार्मिक जीवों का निवास होता है वही भूमि तीर्थ हो जाती है।

१०. धर्म का व्यवहार रूप और है भीतरी रूप और है। शरीर की शुद्धता और है आत्मा की शुचिता इससे परे है। उसी के लिये यह धर्म है।

११. पुस्तकादि में धर्म नही। धर्म के स्वरूप के जानने में ज्ञानी जीव को पुस्तक निमित्त है।

१२ धर्म का लाभ प्रतिज्ञा पालने से नहीं होता वह तो निमित्त है, धर्म लाभ तो आत्मपरिणामों को निर्मल रखने से ही होता है।

१३ जीवों की रक्षा करना ही धर्म है। जहाँ जीवघात मे धर्म माना जावे वहाँ जितनी भी बाह्य क्रिया है, सब विफल है। धर्म वह पदार्थ है जिसके द्वारा यह प्राणी ससारबन्धन से मुक्त हो जाता है। जहाँ प्राणी का घात धर्म बताया जावे उनके दया का अभाव है; जहाँ दया का अभाव है वहाँ धर्म का अंश नही, जहाँ धर्म नहीं वहाँ संसार से मुक्ति नहीं।

१४. शास्त्र की कथा छोड़ो, अनुभव से ही देख लो, एक सुई अपने अंग मे छेदो, फिर देखो आपकी क्या दशा होती है। भोले संसार की वञ्चना करने के लिये अनर्थ वाक्यों की रचना कर अपनी अजीविका सिद्ध करने के लिए लोगों ने अनर्थ-कारी पाप-पोषक शास्त्रों की रचना कर दूसरों को ठगा और अपने को भी ठगा।

१५ धर्म के नाम पर जगत ठगाया जाता है प्रत्यक्ष ठग से धर्म ठग अधिक भयङ्कर होता है।

१६ धर्म का सम्बन्ध आत्मा से है न कि शरीर से। शरीर तो सहकारी कारण है। जहाँ आत्मा की परिणति मोहादि पापों से मुक्त हो जाती है वहीं धर्म का उदय होता है।

१७. धर्म वस्तु कोई बाह्य पदार्थ नहीं, आत्मा की निर्मल परिणति का नाम ही धर्म है। तब जितने जीव हैं सभी में उसकी योग्यता है परन्तु इस योग्यता का विकाश संज्ञी जीव के ही होता है। जो असंज्ञी हैं अर्थात् जिनके मन नहीं है उनके तो उसके विकास का कारण ही नहीं। संज्ञी जीवों में एक मनुष्य ही ऐसा है जिसके उसका पूर्ण विकास होता है। यही कारण है कि सब पर्यायों में मनुष्य पर्याय ही उत्तम मानी गई है। इस पर्याय से हम संयम धारण कर सकते हैं अन्य पर्याय में संयम की योग्यता नहीं। पञ्चेन्द्रियों के विषयों से चित्तवृत्ति को हटा लेना तथा जीवों की रक्षा करना ही संयम है। यदि इस ओर हमारा लक्ष्य हो जावे तो आज ही हमारा कल्याण हो जावे।

१८. बाह्य उपकरणों की प्रचुरता धर्म का उतना साधन नहीं जितनी निर्मल परिणति धर्मका अंग है। भूखे मनुष्यको आभूषण देना उतना तृप्तिजनक नहीं जितना दो रोटी देना तृप्तिजनक होगा।

१९. धर्म का मूल कारण निर्मलता है और निर्मलता का कारण रागादिक की न्यूनता है। रागादिक की न्यूनता पंचेन्द्रिय विषयों के त्याग से होती है। केवल गल्पवाद में धर्म नहीं होता।

२० धर्म वही कर सकता है जो निर्लोभ हो।

२१. धर्म से उत्तम वस्तु संसार में नहीं। धर्म में ही वह शक्ति है कि संसारबन्धन से छुड़ाकर जीवों को सुख स्थान में पहुँचा दे।

२२ धर्म तो वास्तव में निर्ग्रन्थके ही होता है और निर्ग्रन्थ वही कहलाता है जो अन्तरङ्ग से भावपूर्वक हो। वैसे तो बहुत

से जीव परिग्रहविहीन हैं किन्तु आभ्यन्तर परिग्रह के त्यागे बिना इस बाह्य परिग्रह को छोड़ने की कोई प्रतिष्ठा नहीं। अतः आभ्यन्तर की ओर लक्ष्य रखना ही श्रेयस्कर है। बाह्य परिग्रह तो अपने आप छूट जाता है।

२३. धर्म रत्नत्रय रूप है उसमें वञ्चना के लिए स्थान नहीं।

२४ धर्म का यथार्थ आचरण पाले बिना कभी भी धर्मात्मा नहीं हो सकता।

२५. आज धर्म का लोप क्यों हो रहा है ? यद्यपि विभिन्न धर्म के अनुयायी राजा हैं पर उनका वास्तविक हितकारी धर्म नष्ट हो चुका है केवल ऊपरी ठाठ है। वे विषय में मग्न हैं और जहाँ विषयों की प्रचुरता है वहाँ धर्म को अवकाश नहीं मिल सकता। जहाँ विषय की प्रचुरता है वहाँ न्याय अन्याय का यथार्थ स्वरूप नहीं।

२६ धार्मिक बातों पर विचार करो तो यही कहना पड़ता है कि जिस ग्राम मे मन्दिर और मूर्त्तियों की प्रचुरता है यदि वहां पर नया मन्दिर न बनवाया जावे, गजरथ न चलाया जावे, तब कोई हानि नहीं। वही द्रव्य दरिद्र लोगों के स्थितीकरण मे लगाया जावे। उस द्रव्य के और भी उपयोग हैं जैसे :—

१—बालकों को शिक्षित बनाया जावे।

२—धर्म का यथार्थ स्वरूप समझा कर लोगों की धर्म में प्रवृत्ति कराई जावे।

३—प्राचीन शास्त्रों की रक्षा की जावे।

४—प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया जावे। नई नई प्रतिमायें खरीदने की अपेक्षा जगह जगह पड़ी हुई प्राचीन मनोहर मूर्तियों को मन्दिरों में विराजमान कराया जाय।

५—सर्व विकल्प छोड़कर स्वयं उस द्रव्य का यथा योग्य विभाग कर अपने योग्य द्रव्य को रख कर सहधर्मी भाइयों को आश्रय देकर धर्मसाधन में लगाया जावे।

सुख

१ निर्मोही जीव ही सुख के भाजन होते हैं। मोही जीव सदा दुखी रहते है, उन्हें सुख का मार्ग समशरण मे भी नही मिल सकता।

२ मूर्छा मे जितनी घटी होगी उतना ही आनन्द मिलेगा।

३ बहुत से लोग कहा करते हैं कि संसार तो दुःख रूप ही है, इसमे सुख नही। परन्तु यदि तत्त्व दृष्टि से इस विषय पर विचार विमर्श किया जाय तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि यदि ससार मे दुःख ही है तब क्या यह नित्य वस्तु है? नही, क्योंकि दुःख पर्याय का विध्वंस देखा जाता है और प्रयास भी प्राणियों का प्रायः निरन्तर दुःख दूर कर सुखी होने का रहता है। अत सिद्ध है कि यह वस्तु (दुःख) अस्थायी है। अत "ससार मे दुःख है" इसका यही आशय है कि आत्मा के आनन्द नामक गुण में मोहज भाव द्वारा विकृति आ गई है। वही आत्मा को दुःखात्मक वेदना कराती है। जैसे कामला रोगी को सफेद शख भी पीला प्रतीत होता है, वास्तव में पीला नहीं, उसी तरह मोहज विकार मे आत्मा दुःखमय प्रतीत होता है, परमार्थ से दुखी नहीं अपितु सुखी ही है।

४. सयम से रहना ही सुख और शान्ति का सत्य उपाय है।

५. व्यक्ति जितना अल्प परिग्रही होगा उतना ही अधिक सुखी होगा।

६. सुख स्वकीय परणति के उदय में है, बाह्य वस्तुओं के ग्रहणादि व्यापार में नहीं।

७. स्वकथा को छोड़ कथान्तर (परकथा) का त्याग करना आत्मीय सुख का सहज साधन है।

८ पूज्यता का कारण वास्तविक गुण परणति है। जिसमे वह है वही श्लाघ्य और सुख का पात्र है।

९ पराधीनता का त्याग ही स्वाधीन सुख का मूल मन्त्र है।

१० सांसारिक पदार्थों से सुख की आशा छोड़ दो अपने आप सुखी हो जाओगे।

११. सभी के लिये हितकारी प्रवृत्ति करो, कषायों के उदय आने पर देखने जानने का उद्यम करो, उपेक्षा दृष्टि को निरन्तर महत्त्व दो, प्रत्येक व्यक्ति को खुश करने की चेष्टा न करो, इसी में आत्मगौरव और सुख है।

१२ अशान्ति के कारण उपस्थित होने पर अशान्त मत बनो, अन्य लोगों की प्रवृत्तियाँ देखने की अपेक्षा अपनी प्रवृत्ति देखो, बातें बनाकर दूसरों को तथा अपने आप को मत ठगो, एक दिन अपने आप सुखी हो जाओगे।

१३. आनन्द का समय तभी आवेगा जब कुटुम्बी जन तथा शत्रु और मित्रों में समता आ जायगी।

१४ किसी की चिन्ता मत करो, सदा विशुद्धता से रहो, आपत्ति आवे उसे भी भोगो, सुख की सामग्री आवे तब उसे भी भोग लो यही सुख का सस्ता नुसखा है।

१५ मूर्ख समागम से पृथक् रहना ही आत्मकल्याण का मूल मन्त्र है। पर में परत्व और निज में निजत्व ही सुख का मूल कारण है।

१६ जीवन को सुखमय बनाने के लिये अपने सिद्धान्त को स्थिर करो। परन्तु वह सिद्धान्त इतना उत्तम हो कि आजन्म क्या आमुक्ति भी उसमे परिवर्तन न करना पड़े।

१७. सुख का मूल कारण अन्तः चित्तवृत्ति की स्वच्छता है।

१८ स्त्र समय को स्वसमय में लगाना मनुष्य जन्म का कर्तव्य और सुख का कारण है।

१९ तटस्थ रहने मे ही सुख है।

२० हमी अपनी शान्ति के बाधक हैं। जितने भी पदार्थ संसार मे हैं उनमेसे एक भी पदार्थ शान्तस्वभाव का बाधक नहीं। वर्तन में रक्खी हुई मदिरा अथवा डिब्बे में रक्खा हुआ पान पुरुषों में विकृति का कारण नहीं। पदार्थ हमे बलात् विकारी नहीं करता, हम स्वयं मिथ्या विकल्पों से उसमें इष्टानिष्ट कल्पना कर सुखो और दुखी होते हैं। कोई भी पदार्थ न तो सुख देता है और न दुःख देता है, इसलिये जहाँ तक बने आभ्यन्तर परिणामों की विशुद्धि पर सदैव ध्यान रखना चाहिए।

२१ सुख दुःख की व्यवस्था तो अपने मे बनानी चाहिये बाह्य पदार्थों मे नहीं। उद्यान की मन्द सुगन्धित हवा और फूलों की सुगन्धि, भव्य भवन के पलग और कुर्सियाँ, वन्दीजन की बन्दना, षट्रस व्यञ्जन, मधुरालाप संलापिनी नवोढा स्त्री, सुन्दर वस्त्राभूषण और आज्ञाकारी स्वजन आदि सुख साधक बाह्य सामग्री के रहने पर भी एक सम्पन्न धनिक अन्तरङ्ग में व्यापरादि की शल्य होने से सुख से वञ्चित रहता है, जब कि इस

सब सुख की सामग्री से हीन दीन कुली चैन की बंशी बजाता है। अतः सुखों की प्राप्ति परपदार्थों द्वारा मानना महती भूल है।

२२ जितना हमारा प्रयास है केवल दुःख को दूर करने का है हम अनेक उपायों से उसे दूर करने की चेष्टा करते हैं। निद्राभङ्ग होनेपर जब जागृत अवस्था में आते हैं तब एक दम श्री भगवान् का स्मरण करते हैं। उसका यही आशय है—"हे प्रभो! ससार दुख का अन्त हो सच्ची शान्ति और सुख प्राप्त हो।"

२३. पर पदार्थ के निमित्त से जो भी बात हो उसे पर जानो और जबतक उसे विकार न समझोगे आनन्द न पाओगे।

२४ सुखी होने का सर्वोत्तम उपाय तो यह है कि पर पदार्थों में स्वत्व को त्याग दो।

२५. आभ्यन्तर बोध के बिना सुख होना असम्भव है। लौकिक प्रभुतावाले कदापि सुखी नहीं हो सकते।

२६ सन्तोष ही परम सुख और वही सच्चा धन है। सन्तोषामृत से जो तृप्ति आती है वह बाह्य साधन से नहीं आती।

२७. गृहस्थ के सच्चे सुख का साधन यही है कि अपने उपयोग को—

१—देवपूजा २ गुरु उपासना ३ स्वाध्याय ४ संयम ५ तप और ६ दान आदि शुभ कार्यों में लगावे।

२—आय से व्यय कम करे।

३—सत्यता पूर्वक व्यापार करे भले ही आय कम हो।

४—अभक्ष्य भक्षण न करे।

५—आवश्यकताएँ कम करे। आवश्यकताएँ जितनी कम होंगी उतना ही अधिक सुख होगा।

२८ इस संसार में वही जीव सुख का अधिकारी है जो लौकिक निमित्तों के मिलने पर हर्ष और विषाद से अपने को बचा सकता है।

२६ अन्तरङ्ग मे जो धीरता है वही सुख की जननी है।

३०. "संसार में सुख नहीं" यह सामान्य वाक्य प्रत्येककी जिह्वा पर रहता है। ठीक है, परन्तु संसार पर्याय के अभाव करने के बाद तो सुख नियम से होता है। इससे यही प्रतीत होता है कि वह सुख कही नही गया केवल विभाव परिणति हटाने की दृढ़ आवश्यकता है।

३१ संसार में वही जीव सुख का पात्र है जो अपने हित की अवहेलना नही करता।

३२ पर पदार्थों की अधिक संगति से किसीने सुख नही पाया। वे इसको त्यागने से ही सुख के पात्र बने हैं।

३३ जिसके अन्तरङ्ग में शान्ति है उसे बाह्य वेदना कभी कष्ट नहीं दे सकती।

३४ वही जीव ससार में सुखी हो सकता है जिसके पवित्र हृदय मे कषाय की वासना न रहे, जिसका व्यवहार आभ्यन्तर की निर्मलता को लिये हुए हो।

३५ हम कहते हैं कि संसार स्वार्थी है। तब क्या इसका यह अर्थ है कि हम स्वार्थी नहीं। अतः इन अप्रयोजनभूत विकल्पों को छोड़ कर केवल माध्यस्थ भाव की वृद्धि करो। यही सुख का कारण है।

३६. "ज्ञानावरणादि पुद्गल की पर्याय हैं उनका परिणमन पुद्गल में हो रहा है। उसके न तो हम कर्ता हैं, न ग्रहीता हैं,

और न त्यागनेवाले ही हैं" ऐसी वस्तुस्थिति जानकर भी जो देह धन सम्पत्ति आदि में ममत्व नहीं त्यागते वे उन्मार्गगामी जीव बाह्य त्याग कर के कभी सुखी नहीं हो सकते।

३७. धर्म का मूल सिद्धान्त है कि वही आत्मा सुख पूर्वक शान्ति लाभ करने का पात्र होगा जो इन पदार्थों के प्रपञ्च से पृथक् होकर आत्मा की ओर ध्यान रखेगा।

३८ सुख न संसार में है, न मोक्ष में, न कर्मों के बन्धन में, न कर्मों के अभाव में, सुख तो अपने पास है। परन्तु उस निराकुल सुख का आत्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होते हुए भी मोह वश हम उसे अन्यत्र खोजने में लगे हैं।

३९ चित्त में जो लोभ है उसे त्याग दो, जो कुछ मिले उसी में सुख है।

४० यदि धन संतोष का कारण होता तो सबसे अधिक सन्तोष धनी लोगों को होता, त्यागी वर्ग तो अत्यन्त दुखी हो जाता। परन्तु ऐसा नहीं हैं क्योंकि त्यागी सुखी और धनी दुखी देखे जाते हैं। इसका मूल कारण यह है कि इच्छा के अभाव में सुख होता है।

४१. जहाँ तक हमारा पुरुषार्थ है श्रद्धान को निर्मल बनाना चाहिये। तथा विशेष विकल्पों का त्याग कर सन्मार्ग में रत होना चाहिये। यही सुख का कारण है।

शान्ति

१. शान्ति का मूल कारण अशान्ति ही है। जब तक अशान्ति का परिचय हमको नहीं तभी तक हम इस दुःखमय संसार में भ्रमण कर रहे हैं। यदि आपको अशान्ति का अनुभव होने लगा तब समझिये कि आपका संसार तट निकट ही है।

२. आभ्यन्तर शान्ति के लिये कषाय कृश करने की आवश्यकता है, उसी ओर हमारा लक्ष्य होना चाहिये।

३ शान्ति का स्थायी स्थान निर्मोही आत्मा है।

४. ससार में वही आत्मा शान्तिका लाभ ले सकता है जिसने पर के द्वारा सुख दु.ख होने की कल्पना को त्याग दिया है।

५. अन्तरङ्ग शान्ति के आस्वाद में मूर्च्छा की न्यूनता ही प्रधान कारण है। और वह प्रायः उन्हीं जीवों के होती है जिनके स्वपरभेदज्ञान हो गया और जो निरन्तर पर्याय तथा पर्याय सम्बन्धी वस्तु जात में उदासीन रहते हैं।

६ मिसरी का मधुर स्वाद केवल देखने से नहीं आ सकता, आत्मगत शान्ति का स्वाद वचन द्वारा नहीं आ सकता।

७ शान्ति का मार्ग आकुलता के अभाव में है, वह निज में है, निज है, निजाधीन है, परन्तु हम ऐसे पराधीन हो गये हैं कि उसको लौकिक पदार्थों मे देखते हैं, उसकी उपासना में आयु

पूर्ण कर रहे हैं। शान्ति प्राप्त करने के लिये स्वात्मसम्बन्धी कलुषित भावों को दूर करो, यही अमोघ उपाय है।

८. शान्ति का आस्वाद उन्हीं की आत्मा में आता है जो पर पदार्थ से विरक्त हैं।

९. शान्ति का मूल मन्त्र मूर्च्छा की निवृत्ति है। जितनी निवृत्ति होगी अनायास उतनी ही शान्ति मिलेगी। शान्ति के बाधक कारण हमारे ही कलुषित भाव हैं, संसार के पदार्थ उसके बाधक नहीं। तथा उनके त्याग देने से भी यदि अन्तरङ्ग मूर्च्छा की हीनता न हो तब शान्ति का लाभ नहीं हो सकता। अतः शान्ति के लिये निरन्तर अपनी कलुषता का अभाव करने में ही सचेष्ट रहना श्रेयस्कर है।

१०. शान्ति का मूल कारण समता है।

११. वास्तव में शान्ति वह है जो प्रतिपक्षी कर्म के अभाव में होती है। और वही नित्य है।

१२ प्रतिपक्षी कषाय के अभाव में जो शान्ति होती है वह प्रत्येक समय हर एक अवस्था में विद्यमान रहती है। यही कारण है कि असंयमी के ध्यानावस्था में भी शान्ति नहीं होती जो कि संयमी के भोजनादि के समय भी रहती है।

१३. जितना बाह्य परिग्रह घटता है, आत्मा में उतनी ही शान्ति आती है।

१४. शान्ति का उपाय अन्यत्र नहीं। अन्यत्र खोजना ही अशान्ति का उत्पादक और शान्ति के नाश कारण है।

१५. "आत्मा को शान्ति का उपाय मिले" इसके लिये हमें यत्न करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि आत्मा शान्तिमय

है, अतः हमारी जो श्रद्धा है कि हमारा जीवन दुःख मय है, कण्टकाकीर्ण है उसी को परिवर्तित करने की आवश्यकता है।

१६. पर के उपदेश से आत्म शान्ति नहीं मिलती परोपकार भी आत्मशान्ति का उपाय नहीं। उसका मूल उपाय तो कायरता का त्याग करना, उत्साह पूर्वक मार्ग में लगना और संलग्नता पूर्वक यत्न करना है।

१७ अविरत अवस्था में वीतराग भावों की शान्ति को अनुभव करने का प्रयास शशश्रृंग के तुल्य है।

१८. शान्ति कोई मूर्तिमान् पदार्थ नहीं, वह तो एक निराकुल अवस्था रूप परिणाम है। यदि हमारी इस अवस्था मे शरीर से भिन्न आत्मप्रतीति हो गई तो कोई थोड़ी वस्तु नहीं। जब कि अग्नि की छोटी सी भी चिनगारी सघन जंगल को जला सकती है तो आश्चर्य ही क्या यदि शान्ति का एक अश भी भयानक भव वन को एक क्षण में भस्मसात् कर दे।

१६. संसार मे जो इच्छा को हटा देगा वही शान्ति का अधिकारी होगा।

२०. जब तक अन्तरङ्ग परिग्रह न हटेगा तब तक बाह्य वस्तुओं के समागम मे हमारी सुख दुःख की कल्पना बनी रहेगी। जिस दिन वह हटेगा, कल्पना नष्ट हो जायगी और बिना प्रयास के शान्ति का उदय हो जायगा।

२१ पद के अनुसार शान्ति आती है। गृहस्थावस्था में वीतराग अवस्था की शान्ति की श्रद्धा तो हो सकती है परन्तु उसका स्वाद नहीं आ सकता। भोजन बनाने से उसका स्वाद आजावे यह संम्भव नहीं, रसास्वाद तो चखने से ही आवेगा।

२२ शुभाशुभ उदय मे समभाव रखना शान्ति कासाधन है।

२३. सद्भावना में ही शान्ति और सुख निहित है।

२४. पुस्तकादि को पढ़ने से क्या होता है, होने की प्रकृति तो आभ्यन्तर में है। शान्ति का मार्ग मूर्छा के अभाव में है सद्भाव में नहीं।

२५. जहाँ शान्ति है वहाँ मूर्छा नही और जहाँ मूर्छा है वहाँ शान्ति नही।

२६ शान्ति अपनी परणतिविशेष है। उसके बाधक कारण जो हमने मान रखे हैं वे नहीं हैं किन्तु हम स्वयं ही अपनी विरुद्ध मान्यता द्वारा बाधक कारण बन रहे हैं। उस विरुद्ध भाव को मिटा दें तो स्वयमेव शान्ति का उदय हो जावेगा।

२७ समाज का कार्य करने में शान्ति का लाभ होना कठिन है। शान्ति तो एकान्तवास में है। आवश्यकता इस बात की है कि उपयोग अन्यत्र न जावे।

२८. जो स्वयं अशान्त है वह अन्य को क्या शान्ति पहुँचायेगा।

२९. संसार में यदि शान्ति की अभिलाषा है तब इससे तटस्थ रहना चाहिये। गृहस्थावस्था में परिग्रह बिना शान्ति नहीं मिलती और आगम में परिग्रह को अशान्ति का कारण कहा है, यह विरोध कैसे मिटे? तब आगम ही इसको कहता है कि न्याय पूर्वक परिग्रह का अर्जन दुःखदायी नहीं तथा उसमें आसक्ति का न होना ही शान्ति का कारण है। जहाँ तक बने द्रव्य का सदुपयोग करो, विषयों में रत न होओ।

३० धार्मिक चर्चा में समय व्यतीत करना शान्ति का परम साधक है।

३१. अशान्ति का उदय जहाँ होता है और जिससे होता है उन दोनों की ओर दृष्टि दीजिए और अपने आत्मस्वरूप को पहिचानिये, सहज ही झंझट दूर करने की कुञ्जी मिल जायगी।

३२. जिस दिन तात्त्विक ज्ञान का उदय होगा; शान्ति का राज्य मिल जायगा। केवल पर पदार्थों के छोड़ने से शान्ति का मिलना अति कठिन है।

३३ भोजन की कथा से क्षुधानिवृत्ति का उपाय ज्ञात होगा, क्षुधा निवृत्ति नहीं। उसी प्रकार शान्ति के बाधक कारणों को हेय समझने से शान्ति का मार्ग दिखेगा, शान्ति नहीं मिल सकती। शान्ति तो तभी मिलेगी जब उन बाधक कारणों को हटाया जायगा।

३४. आत्मा स्वभाव से अशान्त नहीं, कर्म कलक के समागम से अशान्त हो रहा है। कर्म कलङ्क के अभाव मे स्वयं शान्त हो जाता है।

३५. आत्मा एक ऐसा पदार्थ है जो पर के सम्बन्ध से 'संसारी' और पर के सम्बन्ध के बिना मुक्त ऐसे दो प्रकार के भाव को प्राप्त हो जाता है। पर का सम्बन्ध करनेवाले और न करनेवाले हम ही हैं। अनादि काल से विभाव शक्ति के विचित्र परिणमन से हम नाना पर्यायों मे भ्रमण करते हुए स्वयं नाना प्रकार के दु:खों के पात्र हो रहे हैं। जिस समय हम ज्ञायकभाव में होनेवाले विकृत भाव की हेयता को जान कर उसे पृथक् करने का भाव करेंगे। उसी क्षण शान्ति के पथ पर पहुँच जावेंगे।

३६. पदार्थ को जानने का यही तो फल है कि आत्मा को शान्ति मिले। परन्तु वह शान्ति ज्ञान से नहीं मिलती, न इस प्रवृत्ति रूप व्रतादिकों से ही उसका अविर्भाव होता है, और न

संकल्प कल्पतरु से कुछ आने जाने का है। सच्ची शांति प्राप्त करने के लिये रागादिक भावों को हटाना पड़ेगा क्योंकि शांति का वैभव रागादिक भावों के अभाव में ही निहित है।

३७. केवल वचनों की चतुरता से शान्तिलाभ चाहना मिश्री की कथा से मीठा स्वाद लेने जैसा प्रयास है।

३८. अनेक महानुभावों ने बड़े बड़े तीर्थाटन किये, पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा कराई, मन्दिर निर्माण किये, षोडशकारण, दशलक्षण और अष्टाह्निका व्रत किये, बड़ी बड़ी आयोजना करके उन व्रतों के उद्यापन किये, परन्तु इन्हें शान्ति की गन्ध भी न मिली। अनेक महाशयों ने महान् महान् आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन किया, प्रतिवादी मत्त मतङ्गजों का मान मर्दन किया, अपने पाण्डित्य के प्रताप से महापण्डितों की श्रेणी में नाम लिखाया, तो भी उनकी आत्मा में शान्तिसमुद्र की शीतलता ने स्पर्श नहीं किया। उसी प्रकार अनेक गृहस्थ गृहवास त्यागकर दिगम्बरी दीक्षा के पात्र हुए तथा अध्ययन अध्यापन आचरणादि समस्त क्रिया कर तपस्वियों में श्रेष्ठ कहलाये जिनकी कायसौम्यता और वचन पटुता से अनेक महानुभाव संसार से मुक्त हो गये परन्तु उनके ऊपर शान्तिप्रिया मुक्तिलक्ष्मी का कटाक्षपात भी न हुआ। इससे सिद्ध है कि शान्ति का मार्ग न वचन में है न काय में है और न मनोव्यापार में है। वास्तव में वह अपूर्व रस केवल आत्म-द्रव्य की सत्य भावना के उत्कर्ष ही से मिलता है।

३९ सर्व सङ्गति को छोड़कर एक स्वात्मोन्नति करो, वही शान्ति की जड़ है।

४०. ध्यान करते समय जितनी शान्ति रहेगी, उतनी ही जल्दी संसार का नाश होगा।

४१. संसार में शान्ति के अर्थ अनेक उपाय करो, परन्तु जब तक अज्ञानता है, शान्ति नहीं मिल सकती।

४२ संसार मे जितने कार्य देखे जाते हैं, सब कषाय भाव के हैं। इसके अभाव का जो कार्य है वही हमारा निज रूप है, शान्ति कारक है।

४३ शान्ति से ही आनन्द मिलेगा। अशान्ति का कारण मूर्च्छा है और मूर्च्छा का कारण बाह्य परिग्रह है। जब तक इन बाह्य कारणों से न बचोगे, शान्ति का मार्ग कठिन है।

४४ शान्ति के कारण सर्वत्र हैं, परन्तु मोही जीव कहीं भी रहे उनके लाभ से वञ्चित रहता है।

४५ शान्ति का लाभ अशान्ति के आभ्यन्तर बीज को नाश करने से होता है।

४६ ससार मे कही शान्ति न हो सो बात नहीं। शान्ति का मार्ग अन्यथा मानने से ही संसार मे अशान्ति फैलती है। यथार्थ प्रत्यय के बिना साधु भी अशान्त रहता है।

४७ ममता के त्याग बिना समता नहीं, और समता के बिना तामस भाव का अभाव नही। जब तक आत्मा में कलुषता का कारण यह भाव है तब तक शान्ति मिलना असम्भव है।

भक्ति

१. पञ्च परमेष्ठी का स्मरण इस लिये नहीं हैं कि हम एक माला फेर कर कृतकृत्य हो जायें। किन्तु उसका यह प्रयोजन है कि हम यह जान लें कि आत्मा के ही ये पाँच प्रकार के परिणमन हैं। उसमें सिद्धपर्याय तो अन्तिम अवस्था है। यह वह अवस्था है जिसका फिर अन्त नहीं होता। शेष चार पर्यायें औदारिक शरीर के सम्बन्ध से मनुष्यपर्याय मे होती हैं। उनमें से अरहन्त भगवान तो परम गुरु हैं जिनकी दिव्यध्वनि से संसार आताप के शान्त होने का उपदेश जीवों को मिलता है और तीन पद साधक है, ये सब आत्मा की ही पर्याय हैं। उनके स्मरण से हमारी आत्मा में यह ज्ञान होता है-"यह योग्यता हमारी आत्मा में है, हमें भी यही उद्यम कर चरम अवस्था का पात्र होना चाहिए। लौकिक राज्य जब पुरुषार्थ से मिलता है तब मुक्तिसाम्राज्य का लाभ अनायास हो जाये यह कैसे हो सकता है।"लोक में कहावत है—"बिन मांगे मोती मिले मांगे मिले न भीख" अतः अरहन्तादि परमेष्ठी से भिक्षा माँगने से हम संसारबन्धन से नहीं छूट सकते। जिन उपायों को श्री गुरु ने दर्शाया है उनके साधन से अवश्यमेव वह पद अनयास प्राप्त हो जावेगा।

२ देव दर्शन और शास्त्र स्वाध्याय का फल मैं तो आत्मीय

परणतिका ज्ञान होना ही मानता हूँ। यदि आत्मीय परणति की प्रतीति न हुई तब यह सब विडम्बना मात्र है।

३ सामायिक का यही तात्पर्य है कि मेरे नियम के अनुसार यावत् सामायिक का काल है तावत् मैं साम्यभाव से रहूँगा। और इसका भी यही अर्थ है कि सामायिक के समय में कषायों की पीड़ा से बचूं।

४ देव पूजा स्वाध्यायादि जो क्रिया है उसका भी यही तात्पर्य है कि अपनी परणति को अशुभोपयोग की कलुषता से रक्षित रखा जाय।

५ वन्दना (तीर्थयात्रा) का अर्थ अन्तरङ्ग निर्मलता है। जहाँ परिणामों मे संक्लेशता हो जावे वहाँ यात्रा का तात्त्विक लाभ नहीं।

६ शुभोपयोग को ज्ञानी कब चाहता है ? यदि उसे शुभोपयोग इष्ट होता तो उसमें उपादेय बुद्धि होती ? वह तो निरन्तर यह चाहता है कि हे प्रभो ! कब ऐसा दिन आवे जब आपके सदृश दिव्यज्ञान को पाकर स्वच्छन्द मोक्षमार्ग मे विचरूँ।

७. भगवान के दर्शन कर यही भाव होता है कि हे प्रभो ! आप वीतराग सर्वज्ञ हैं, जानते सब हैं परन्तु वीतराग होने से चाहे आपका भक्त हो चाहे अभक्त हो, आपके न राग होता है न द्वेष। जो जीव आपके गुणों में अनुरागी हैं उनके स्वयमेव शुभ परिणामों का सञ्चार हो जाता है और वे परिणाम ही पुण्यबन्ध मे कारण होते हैं।

८ प्रभो ! मैं दीनता से कुछ वरदान की याचना नहीं कहता "रागद्वेषयोरप्रणिधानमुत्पेक्षा।" आप राग द्वेष से रहित हैं अतः

उपेक्षक हैं। जिनके रागद्वेष नहीं उनको किसीको भलाई करने की बुद्धि ही नहीं हो सकती अतः उनकी भक्ति से कोई लाभ नहीं, ऐसा जो श्रद्धान है वह ठीक नहीं क्योंकि जो छाया में वृक्ष के नीचे बैठ जाता है। उसको इसकी आवश्यकता नहीं कि वृक्ष से छाया की याचना करे। वृक्ष के नीचे बैठने से छाया का लाभ अपने आप हो जाता है। इसी प्रकार जो रुचिपूर्वक श्री अरहन्तदेव के गुणों का स्मरण करता है उसके मन्द कषाय होने से शुभोपयोग स्वयमेव हो जाता है और उसके प्रभाव से शान्ति का लाभ भी स्वयं हो जाता है, ऐसा स्वयं निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध बन रहा है। परन्तु व्यवहार ऐसा होता है कि वृक्ष की छाया है। परन्तु छाया वृक्ष की नहीं होती किन्तु सूर्य की किरणों का वृक्ष के द्वारा रोध होने से वृक्षतल में स्वयमेव छाया हो जाती है। एवं श्रीमद्देवाधिदेव के गुणों का रुचिपूर्वक स्मरण करने से स्वयमेव जीवों के शुभ परिणामों की उत्पत्ति होती है। फिर भी व्यवहार से ऐसा कथन होता है कि भगवान् ने हमारे शुभ परिणाम कर दिये।

६. हे भवगन्! जो आपके गुणों का अनुरागी है वह पुण्यबन्ध नहीं चाहता, क्योंकि पुण्यबन्ध भी संसार का कारण है और ज्ञानी जीव संसार के कारणरूप भावों को उपादेय नहीं मानता। केवल अज्ञानी जीव ही भक्ति को सर्वस्व मान उसमें तल्लीन हो जाते हैं क्योंकि उसके आगे उन्हें और कुछ सूझता ही नहीं। जब ज्ञानी जीव श्रेणी चढ़ने में समर्थ नहीं होता तब जो मोक्षमार्ग के पात्र नहीं उनमें तीव्र रागज्वर का अपगम करने के लिये श्री अरहन्तादि की भक्ति करता है। श्री अरहन्त के गुणों में अनुराग होना यही तो भक्ति है। वीतरागता, सर्वज्ञता और मोक्षमार्ग का नेतापन यही अरहन्त के गुण हैं। इनमें अनुराग

होने से कौनसा विषय पुष्ट हुआ ? यदि इन गुणों में प्रेम हुआ तब उन्हीं की प्राप्ति के अर्थ ही तो प्रयास है।

१० आत्मा शांति ही का अभिलाषी है, और वह शान्ति निज मे है। केवल मोह ने उसे तिरोहित कर रखा है। मूर्ति के दर्शनमात्र से उस शान्तिका स्मरण हो जाता है तब हम विचारते हैं कि हे प्रभो ! हम भी तो इस वीतरागताजन्य शान्ति के पात्र हैं। और वह वीतरागता हमारी ही परणतिविशेष है। अब तक हमारी अज्ञानता ही उसके विकास में बाधक रही है। आज आपकी छवि के अवलोकन मात्र से हमको निज शान्ति का स्मरण हुआ है।

११. मोक्षमार्ग के परम उपदेष्टा श्री परम गुरु अरिहंतदेव हैं। उनके द्वारा इसका प्रकाश हुआ है अत: हमें उचित है कि अपने मार्गदर्शक का निरन्तर स्मरण करें। परन्तु उन्हीं प्रभुका उपदेश है कि यदि मार्ग द्रष्टा होने की भावना है तब हमारी स्मृति भी भूल जाओ। और जिस मार्ग को अङ्गीकार किया है उसी का अवलम्बन करो, अर्थात् पदार्थ मात्र में रागादि परणति को त्यागो क्योंकि यह परणति उस पद की प्राप्ति में बाधक है।

१२ धन्य है प्रभो तेरी महिमा ! आप की भक्ति जब प्राणियों को संसारबन्धन से मुक्त कर देती है, फिर यदि ये क्षुद्र बाधाएँ मिट जावे तो इसमे आश्चर्य ही क्या ? परन्तु भगवन ! हम मोही जीव ससार की बाधाओं को सहने में असमर्थ हैं। क्षुद्र क्षुद्र कार्यो की पूर्ति मे ही अचिन्त्य भक्ति के प्रभाव को खो देते हैं। आपका तो यहाँ तक उपदेश है कि यदि मोक्ष की कामना है तब मेरी भक्ति की भी उपेक्षा कर दो क्योंकि वह भी ससारबन्धन का कारण है। जो कार्य निष्काम किया जाता

है वही बन्धन से मुक्त करनेवाला होता है। जो भी कार्य करो उसमें कर्तृत्वबुद्धि को त्यागो।

१३. प्रातः उठकर भगवद्भक्ति करो। चित्त में शान्ति आना ही भगवद् भक्ति का फल है। यदि शान्ति का उदय न हुआ तब केवल पाठ से कोई लाभ नहीं।

१४. अनुराग पूर्वक परमात्मा का स्मरण भी बन्ध का कारण है अतः हेय है। मूल तत्त्व तो आत्मा ही है। जबतक अनात्मीय औदयिकादि भावों का आदर करोगे तक तक संसार ही के पात्र बने रहोगे।

१५ "पारस (पार्श्व पत्थर) के स्पर्श से लोहा सुवर्ण (सोना) हो जाता है।" इस लोकोक्ति पर विश्वास रखनेवाले जो लोग पार्श्व प्रभु के चरण स्पर्श से केवल सुवर्ण (सु+वर्ण=सत्कुलीन सदाचारी) होना चाहते हैं वे सन्मार्ग से दूर हैं। पार्श्वप्रभु के तो स्मरणमात्र में वह शक्ति है कि उनके चरण स्पर्श बिना ही लोग स्वयं पार्श्व बन जाते हैं।
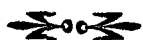
स्वाधीनता

१. आप को यह अनुभव से मानना पड़ेगा कि मोक्षमार्ग स्वतंत्रता मे है। हम जो भी कार्य करते है उसमे स्वतंत्र है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता मे श्रीकृष्ण का दिव्य उपदेश है कि "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" सो इसका यही अर्थ है कि तभी बन्धन से छूटोगे जब निष्पृह होकर कार्य करोगे। दूसरा यह भी तत्त्व इससे निकलता है कि बन्ध की जनक इच्छा ही है और वही ससार की जननी है।

२ स्वाधीनता ही एक ऐसा अमोघ मन्त्र है जिससे हम सदा सुखी रह सकते हैं क्योंकि यह पराधीनता तो ऐसा प्रबल रोग है जो ससार से मुक्त नहीं होने देता। अतः चाहे भले ही वन में रहो यदि इसके वश मे हो तब तो कुछ सार नहीं। यदि इसपर विजय प्राप्त कर लो तब कहीं भी रहो पौबारा है।

३ जब तक अपनी स्वाधीनता की उपासना मे तल्लीन न होओगे, कदापि कर्मजाल से मुक्त न हो सकोगे।

४ मार्ग में स्वतत्रता ही मुख्य है पराधीनता तो मोक्ष मे बाधक है।

५. इस पराधीनता को पृथक् कर स्वाधीन बनो आप ही शान्ति के पात्र हो जाओगे।

६. आज कल के समय में स्वाधीनता पूर्वक थोड़ा भी धर्मसाधन करना पराधीनता पूर्वक किये गये अधिक धर्म साधन से लाखगुणा अच्छा है।

७ हमने अंग्रेजों को इस लिए भगाया क्योंकि हम पराधीन थे पर यदि इतने मात्र से हम संतुष्ट हो गये तो यह हमारी बड़ी भूल होगी। हमारी स्वाधीनता तो हमारे पास है। उसे पहिचानो और उसकी प्राप्ति के उपाय में लग जाओ।

८ स्वाधीन कुटिया से पराधीनता का स्वर्ग भी अच्छा नहीं।

पुरुषार्थ

१ पुरुषार्थ से मुक्ति लाभ होता है।

२ बाह्य क्रियायों का आचरण करते हुए अभ्यन्तर की ओर दृष्टि रखना ही प्रथम पुरुषार्थ है।

३ पुरुषार्थी वही है जिसने राग द्वेष को नष्ट करने के लिये विवेक प्राप्त कर लिया है।

४ घर छोड़कर तीर्थ स्थान में रहने में पुरुषार्थ नहीं, पण्डित महानुभावों की तरह ज्ञानार्जनकर जनता को उपदेश देकर सुमार्ग में लगाना पुरुषार्थ नही, दिगम्बरवेष भी पुरुषार्थ नहीं। सच्चा पुरुपार्थ तो वह है कि उदय के अनुसार जो रागादिक हों वे हमारे ज्ञान में तो आवे और उनकी प्रवृति भी हममें हो, किन्तु हम उन्हें कर्मज भाव समझ कर इष्टानिष्ट कल्पना से अपनी आत्मा की रक्षा कर सके।

५ पुरुषार्थ करना है तो उपयोग को निरन्तर निर्मल करने का पुरुषार्थ करो।

६ यदि पुरुपार्थ का उपयोग करना है तो क्रमशः कर्म अटवी को दग्ध करने में उसका उपयोग करो।

७ राग द्वेष को बुद्धिपूर्वक जीतने का प्रयत्न करो, केवल

कथा और शास्त्रस्वाध्याय से ही ये दूर नहीं हो सकते। आवश्यक यह है कि पर वस्तु में इष्टानिष्ट कल्पना न होने दो। यही रागद्वेष दूर करने का सच्चा पुरुषार्थ है।

८ कषायों के उदय वश प्राणी नाना कार्य करते हैं किन्तु पुरुषार्थ ऐसी तीक्ष्ण खड्गधार है जो उदयजन्य रागादिकों की सन्तति को ही निर्मूल कर देती है।

९ स्वयं अर्जित 'रागद्वेष की उत्पत्ति को हम नहीं रोक सकते परन्तु उदय में आये रागादिकों द्वारा हर्ष विषाद न करें यह हमारे पुरुषार्थ का कार्य है।

१० संज्ञी पञ्चेन्द्रिय होने की मुख्यता इसीमें है कि वह पुरुषार्थ द्वारा आत्मकल्याण करे।

११ अभिप्राय में मलिनता न होना ही सच्च पुरुषार्थ है।

१२. लौकिक पुरुषार्थ पुरुषार्थ नहीं। वह तो कर्म बन्धका कारण है। सच्चा पुरुषार्थ तो वह है जिससे राग द्वेष की निवृत्ति हो जाती है।

सच्ची प्रभावना

१ वास्तव में धर्म की प्रभावना तो आचरण से ही होती है। यदि हमारी प्रवृत्ति परोपकार रूप है तब अनायास लोग उसकी प्रशंसा करेंगे, और यदि हमारी प्रवृत्ति और आचार मलिन है तब उनकी श्रद्धा इस धर्म मे नहीं हो सकती।

२. निरन्तर रत्नत्रय तेज के द्वारा आत्मा प्रभावना सहित करने योग्य है। तथा दान, तप, जिनपूजा, विद्याभ्यास आदि चमत्कारों से धर्म की प्रभावना करनी चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि ससारी जीव अनादि काल से अज्ञानान्धकार से आच्छन्न हैं, उन्हें आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं, शरीर को ही आत्मा मान रहे हैं, निरन्तर उसी के पोषण में उपयोग लगा रहे हैं, तथा उसके जो अनुकूल हुआ उसमें राग, और जो प्रतिकूल हुआ उसमें द्वेष करने लग जाते हैं। श्रद्धा के अनुकूल ही ज्ञान और चारित्र होता है, अतः सर्व प्रयत्नों द्वारा प्रथम श्रद्धाको ही निर्मल करना चाहिये। उसके निर्मल होने पर ज्ञान और चारित्र का भी प्रदुर्भाव होने से तीनों गुणों का पूर्ण विकास हो जाता है। इसी का नाम रत्नत्रय है, यही मोक्ष मार्ग है और यही आत्मा की निज विभूति है। जिसके यह विभूति हो जाती है वह ससार के बन्धन से छूट जाता है, यही निश्चय प्रभावना है। इसकी महिमा वचन के द्वारा नही कही जा सकती।

३. प्रभावना अंग की महिमा अपार है। परन्तु हमलोग उसपर लक्ष्य नहीं देते। एक मेले में लाखों रुपये व्यय कर देंगे, परन्तु यह न होगा कि एक ऐसा कार्य करें जिससे सर्व साधारण लाभ उठा सकें।

४. पहले समय में मुनिमार्ग का प्रसार था, अतः गृहस्थ लोग जब संसार से विरक्त हो जाते थे, और उनकी गृहिणी (धर्म पत्नी) आर्या (साध्वी) हो जाती थी, तब उनका परिग्रह शेष लोगों के उपयोग में आता था, परन्तु आज मरते मरते भोगों से उदास नहीं होते! कहाँ से उन्हें आनन्द का अनुभव आवे? मरते मरते यही शब्द सुने जाते हैं कि ये बालक आप लोगों की गोद में हैं, इन्हें सम्भालना, रक्षा करना, आदि। यह दुरवस्था समाज की हो रही है। तथा जिनके पास पुष्कल धन है वे अपनी इच्छा के प्रतिकूल एक पैसा भी खर्च नहीं करना चाहते। वास्तव में धर्म की प्रभावना करना चाहते हो तो जातीय पक्षपात को छोड़कर प्राणी मात्र का उपकार करो। क्योंकि धर्म किसी जाति विशेष का पैतृक विभव नहीं अपि तु प्राणीमात्र का स्वभाव धर्म है। अतः जिन्हें धर्म की प्रभावना करना इष्ट है, उन्हें उचित है कि प्राणी मात्र के ऊपर दया करें, अहम्बुद्धि ममबुद्धि को तिलाञ्जलि दें, तभी धर्म की प्रभावना हो सकती है।

५. सच्ची प्रभावना तो यह है कि जो अपनी परणति अनादि काल से पर को आत्मीय मान कलुषित हो रही है, पर में निजत्व का अवबोधकर विपर्ययज्ञानवाली हो रही है, तथा पर पदार्थों में राग द्वेष कर मिथ्याचारित्रमयी हो रही है उसे आत्मीय श्रद्धान ज्ञान और चरित्र के द्वारा ऐसी निर्मल बनाने

का प्रयत्न करो जो इतर धर्मावलम्बियों के हृदय में स्वयमेव समा जावे, इसी को निश्चय प्रभावना कहते हैं। अथवा—

१—ऐसा दान करो जिससे साधारण लोगों का भी उपकार हो।

२—ऐसे विद्यालय खोलो जिनमें यथाशक्ति सभी को ज्ञान लाभ हो।

३—ऐसे औषधालय खोलो जिनमे शुद्ध औषधि से सभी लाभ ले सकें।

४—ऐसे भोजनालय खोलो जिनमें शुद्ध भोजन का प्रबन्ध हो, अनाथों को भी भोजन मिल।

५—अभयदानादि देकर प्राणियों को निर्भय बनाओ।

६—ऐसा तप करो जिसे देखकर कट्टर से कट्टर विरोधियों की तप मे श्रद्धा हो जावे।

७—अज्ञान रूपी अन्धकार से जगत आच्छन्न है, उसे यथा-शक्ति दूर कर धर्म के माहात्म्य का प्रकाश करना, इसी का नाम सच्ची (निश्चय) प्रभावना है। वर्तमान में इसी तरह की प्रभावना आवश्यक है।

८—पुष्कल द्रव्य को व्यय कर गजरथ चलाना, प्रीतिभोज में पचासों हजार मनुष्यों को भोजन देना, और सङ्गीत मण्डली के द्वारा गान कराकर सहस्रों के मन में धर्म की प्राचीनता के साथ साथ वास्तव कल्याण का मार्ग भर देना यह तो प्राचीन समय की प्रभावना थी परन्तु इस समय इस तरह की प्रभावना की आवश्यकता है—

१. हजारों भूखे पीड़ित मनुष्यों को भोजन कराना, सहस्रों मनुष्यों को वस्त्रदान देना।

२. प्रत्येक ऋतु के अनुकूल दान की व्यवस्था करना।

३. जगह जगह सदावर्त खुलवाना।

४. गर्मी के दिनों में पानी पिलाने का प्रबन्ध करना (प्याऊ खोलना)।

५ जो मनुष्य आजीविका विहीन हैं उन्हें व्यापारादि कार्य में लगाना।

६ स्थान स्थान पर धर्मशाला बनवाना जिनमें सभी तरह की सुविधा हो।

७. नव दुर्गा एवं दशहरा आदि पर्वों पर प्रतिवर्ष बलिदान होनेवाले निरपराध बकरे, भैंसे आदि मूक पशुओं को बलिदान होने से बचाना।

८. जनता में धर्म प्रचार के लिये उपदेशक रखना और क्षेत्रों पर उनका महत्व समझनेवाले शास्त्रवाचक विद्वान रखना।

९ वर्तमान समय में तीर्थयात्रा व धार्मिक मेलों में अपनी सम्पत्ति का व्यय न करके शरणार्थियों की समस्या हल करने में सरकार की सहायता करना।
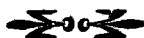
निरीहता

१ निरीहता (निस्पृहता) का यही अर्थ है कि संसार मे आत्मातिरिक्त जितने पदार्थ हैं उनको ग्रहण करने की अभिलाषा छोड़ देना।

२. निरीहता आत्मा की एक ऐसी निर्मल परणति है जो आत्मा को प्रायः सभी पापों से सुरक्षित रखती है।

३. श्रेयोमार्ग निरीह वृत्ति में है।

४ निरीहवृत्ति वाले जीव मिथ्या भाव को त्यागने मे सदा सफल होते हैं।

५. जिसके निरीह वृत्ति नहीं वह मनुष्य पापोंके त्याग करने में असमर्थ रहता है।

६ जो व्यक्ति निरीह होते हैं, वेही इन्द्रिय विजयी होते हैं।

७ संसार में वही मनुष्य शान्ति का लाभ ले सकता है जो निष्पृह होगा।

८ निष्पृहता मोक्षमार्ग की जननी है।

९ जहां तक बने निष्पृह होने का प्रयत्न करो। संसार में परिग्रह तो सबको प्रिय है, किन्तु इसके विरुद्ध प्रवृत्ति करना किसी पुण्यात्मा का ही कार्य है।

१० निरीहता शान्ति का मूल कारण है।

निराकुलता

१. निराकुलता ही धर्म है।

२. हमारी समझ में यह नहीं आता कि गृहस्थधर्म में सर्वथा ही आकुलता रहती है, क्योंकि जहां सम्यग्दर्शन का उदय है वहाँ अनन्त संसार का कारण विकल्प होता ही नहीं फिर कौन सी ऐसी आकुलता है जो निरन्तर हमें बाधा पहुँचाये। केवल हमारी कायरता है जो विकल्प उत्पन्न कर तिल का ताड़ बना देती है। मेरी तो यह सम्मति है कि बाह्य परिग्रहों का बाधकपना छोड़ो और अन्तरङ्ग में जो मूर्च्छा है उसे ही बाधक कारण समझो, उसे ही पृथक् करने का प्रयत्न करो। उसके पृथक् करने में न साधु होने की आवश्यकता है और न ध्यानादि की आवश्यकता है। ध्यान नाम एकाग्र परिणति का है, वह कषाय वालों के भी होती है और वीतराग के भी होती है। अतः जहाँ विपरीताभिप्राय न होकर ज्ञान की परिणति स्थिर हो वही प्रशस्त है।

३. "शल्य रहित ही व्रती कहलाता है" आचार्यों का यह लिखना इतना गम्भीर अर्थ रखता है कि वचनागोचर है। धर्मका साधन तो करना चाहते हैं और उसके लिए घर भी छोड़ देते हैं, धन भी छोड़ देते हैं परन्तु शल्य नहीं छोड़ते। यही कारण है कि बिना फँसाये फँस जाते हैं।

४. यदि आप अपना हित चाहते हैं तो विकल्प न कीजिये।

५. जब तक आकुलता विहीन अनुभव न हो तब तक शान्ति नहीं। अतः इन वाह्य आलम्बनों को छोड़कर स्वावलम्बन द्वारा रागादिकों की क्षीणता करने का उपाय करना ही अपना ध्येय बनाओ और एकान्त में बैठकर उसी का मनन करो।

६ यदि निराकुलतापूर्वक एक दिन भी तात्विक विचार से अपने को भूषित कर लिया तो अपने ही में तीर्थ और तीर्थकर देखोगे।

७. यदि गृह छोड़ने से शांति मिले तब तो गृह छोड़ना सर्वथा उचित है। यदि इसके विपरीत आकुलता का सामना करना पड़े तब गृहत्याग से क्या लाभ? चौबे से छब्बे होना अच्छा परन्तु दुबे होना तो ठीक नहीं।

८ कल्याण का मार्ग कोई क्या बतावेगा, अपनी आत्मा से पूछो। उत्तर यही मिलेगा—"जिन कार्यों के करने में आकुलता हो उन्हें कदापि न करो चाहे वह अशुभ हों या शुभ।"

९ सुख का अर्थ "आत्मा में निराकुलता है।" जहाँ मूर्छा है वहाँ निराकुलता नहीं।

१० विषयाभिलाषी ही आकुलता की जननी है। इसे छोड़ो, अपने आप निराकुल हो जाओगे।

भद्रता

१. भद्रता सुख की जननी है।

२. भद्रता वही प्रशंसनीय है जिसमें भिन्न-भिन्न अवगुणों की गन्ध न हो।

३. भद्रता स्वाभाविकी वस्तु है, उसमें बातों की सुन्दरता बाधक है।

४. भद्र परिणामों की साधक मृदुता है।

५. कभी-कभी मायावी भी भद्र के समान दिखाई देता है, पर इन दोनों में अन्तर है। मायावी कुटिल होता है और भद्र सरल होता है।

६. जिसके परिणामों में कुटिलता नहीं वह स्वभाव से ही भद्र होता है।

७. जो भद्र है वही धर्मोपदेश का अधिकारी माना गया है।

८. यह ठीक है कि भद्र को हर कोई ठग लेता है पर इससे उसकी कोई हानि नहीं होती। इससे तो उसके भद्रता गुण की सुगन्धि चारों ओर और अधिक फैल जाती है।

उदासीनता

१. विषय कषायों में स्वरूप से शिथिलता आ जाने का नाम उदासीनता है।

२. यद्यपि परिग्रह के विषय में उदासीनता कल्याण की जननी है परन्तु धर्म के साधनों में उदासीनता का होना अच्छा नहीं है।

३ उदासीनता ही वैराग्य की जननी और संसार की जड़ काटने वाली है।

४ उदासीनता का अर्थ है कि पर से आत्मीयता छोड़ो।

५. चाहे घरमें रहे चाहे वनमें जो उदासीनता पूर्वक अपना जीवन विताता है उसीका जीवन सार्थक है।

६ उपेक्षा भाव उदासीनता का पर्यायवाची है और चित्त में राग द्वेष रूप विकल्पका न होना ही उपेक्षाभाव है।

७. उदासीनता सम्यग्दृष्टिका लक्षण है। यह जिसके जीवनमें उतर आई वही वास्तवमें सम्यग्दृष्टि है।

८. जो कुछ होता है प्रकृतिके नियमानुसार होता है उसमे कर्तृत्व बुद्धिका त्याग करना ही उदासीनता है।

९ जैसे कमल जलमें रह कर भी उससे जुदा है वैसे ही

अनात्मीय भावोंसे अपनेको जुदा अनुभव करना ही उदासीनता है।

१०. उदासीन वे हैं जो सब कुछ करते हुए भी उसमें लिप्त नहीं होते।

११. आहार तो मुनि भी लेते हैं। पर उसके मिलने की अपेक्षा न मिलने में वे अधिक आनन्द मानते हैं। जिस महात्माके यह वृत्ति जग गई वही उदासीन है।

१२. अभिलाषा मात्र हेय है। जिसकी मोक्षके प्रति भी अभिलाषा बनी हुई है वह उदासीन नहीं हो सकता।

१३. चाहे पूजा करो चाहे जप, तप संयम करो पर एक बात ध्यान रखो कि संसार की कोई भी वस्तु तुम्हें लुभा न सके।

त्याग

१. जिनमें सहिष्णुता और धीरता इन दोनों महान् गुणों का अभाव है वे त्यागी होने के पात्र नहीं।

२. तृप्ति का कारण त्याग ही है।

३. त्याग धर्म के होने से धर्म के सभी कार्य निर्विघ्न चल सकते हैं।

४. त्याग बिना बिना नमक के भोजन की तरह किसी भी आध्यात्मिक रस की सरसता नहीं।

५ जिस त्याग से निर्मलता की वृद्धि होती है वही त्याग त्याग कहलाता है। जिस त्याग के अनन्तर कलुषता हो वह त्याग नहीं दम्भ है।

६ त्याग की भावना इसी में हैं कि वह आकुलता से दूषित न हो।

७. पर्याय के अनुकूल ही त्याग हितकर है।

८. त्यागी होकर जो सज्जन सञ्चय करते हैं वे महान् पापी हैं।

९. परिग्रह का जो त्याग आभ्यन्तर से होता है वह कल्याण का मार्ग होता है और जो त्याग ऊपरी दृष्टि से होता है वह क्लेश कर होता है!

१०. अधिक संग्रह ही संसार का मूल कारण है।

११. घर को त्याग कर जो मनुष्य जितना क्षोभ करता है वह अपने को प्राय: उतने ही जघन्य मार्ग में ले जाता है। अत: जब तक आभ्यन्तर कषाय न जावे तब तक घर छोड़ने से कोई लाभ नहीं।

१२. उस त्याग का कोई महत्त्व नहीं जिसके करने पर लोभ न जावे।

१३. त्याग कल्याण का प्रमुख मार्ग है।

१४. आवश्यकताएँ कम करना भी तो त्याग है। बाह्य वस्तु का त्याग कठिन नहीं, आभ्यन्तर कषायों की निवृत्ति ही कठिन है।

१५. जिस त्याग के करने पर भी तात्त्विक शान्ति का आस्वाद नहीं आता वहाँ यही अनुमान होता है कि वह आभ्यन्तर त्याग नहीं है।

१६. बाह्य त्याग की वहीं तक मर्यादा है जहाँ तक वह आत्म परिणामों में निर्मलता का साधक हो।

१७. अपनी लालसा को छोड़ने के अर्थ जिन लोगों ने त्याग धर्म को अङ्गीकार करके भी यदि उसी त्यक्त सामग्री की तरफ लक्ष्य रक्खा तो उन्होंने उस त्याग से क्या लाभ उठाया ?

१८. मनुष्य जितने कार्य करता है, उन सबका लक्ष्य सुख की ओर रहता है। वास्तव में यदि विचार किया जावे तो सुखोत्पत्ति त्याग से ही होती है। इसी से धर्म का उपदेश त्याग प्रधान है। जिसने इसको लक्ष्य नहीं किया वह धार्मिक

ज्ञानी नहीं। इसके ऊपर जिसकी दृष्टि रही उसी का त्याग करने का प्रयत्न सफल हो सकता है।

१९. जिसे त्यागधर्म का मधुर आस्वाद आ गया वह परिग्रह पिशाच के जाल में नहीं फँस सकता।

२०. जब तक आत्मा में त्याग भाव न हो तब तक परोपकार होना कठिन है। परोपकार के लिये आत्मोत्सर्ग होना परमावश्यक है। आत्मोत्सर्ग वही कर सकेगा जो उदार होगा और उदार वही होगा जो संसार से भयभीत होगा।

२१. जितना भी भीतर से त्यागोगे, उतना ही सुख पाओगे।

२२. सच्चा धर्म वही है जो परिग्रह के त्याग करने का उपदेश देता है ग्रहण करने का नहीं।

२३. जितना ही कषाय का उपशम होता है उतना ही त्याग होता है।

२४. जो द्रव्य से ममता त्यागेगा उसे शान्ति मिलेगी और उसके चारित्र का विकास होगा।

२५. लक्ष्मी को लोग अपना समझ कर दान करते हैं, तथा उससे अपना महत्त्व चाहते हैं। परन्तु सच तो यह है कि जो वस्तु हमारी नहीं उस पर हमारा कोई स्वत्व नहीं। उसे देकर महत्व की चाहना करना मूर्खता है।

२६. हम लोग केवल शास्त्रीय परिभाषाओं के आधार से त्याग करने के व्यसनी हैं। किन्तु जब तक आत्मगत विचार से त्याग नहीं होता तब तक त्याग त्याग नहीं कहला सकता।

दान

प्रत्येक समाज में दान करने की प्रथा है किन्तु दान क्या वस्तु है? उसके पात्र, अपात्र या दातार कौन हैं? इसकी विधि और समय क्या है? तथा किस दान की क्या उपयोगिता और क्या फल है आदि बातोंपर गम्भीर दृष्टि से विचार विमर्श करने वाले लोग बहुत ही कम हैं। जब तक पूर्ण रीति से विचार कर दान न दिया जायगा उसका कोई उपयोग नहीं।

दान का लक्षण

प्राणी की आवश्यकता को शास्त्रोक्त मार्ग, लौकिक सद् व्यवहार और न्याय नीति के अनुसार पूर्ण करना दान है।

दान की आवश्यकता

द्रव्यदृष्टिसे जब हम अन्तःकरणमें परामर्श करते हैं तब यही प्रतीत होता है कि सब जीव समान हैं। यद्यपि इस विचारसे तो दानकी आवश्यकता नहीं, किन्तु पर्यायदृष्टिसे सभी जीव भिन्न-भिन्न पर्यायोंमें स्थित हैं। कितने ही जीव तो कर्मकलङ्क-उन्मुक्त हो अनन्तसुखके पात्र हो चुके हैं और जो संसारी हैं उनमें भी कितने तो सुखी देखे जाते हैं और कितने ही दुखी। बहुतसे अनेक विद्याके पारगामी विद्वान् हैं और बहुतसे नितान्त

मूर्ख दृष्टिगोचर होरहे हैं। बहुतसे सदाचारी और पापसे पराङ्मुख हैं, तब बहुत से असदाचारी और पापमें तन्मय हैं। जब कि कितने ही बलिष्ठताके मदमें उन्मत्त हैं, तब बहुतसे दुर्बलतासे खिन्न होकर दुखभार वहन कर रहे हैं। अतएव आवश्यकता इस बातकी है कि जिसको जिस वस्तुकी आवश्यकता हो उसकी पूर्ति कर परोपकार करना चाहिए।

दान देनेमें हेतु

स्थूलदृष्टिसे परके दुःखको दूर करनेकी इच्छा दान देने में मुख्य हेतु है परन्तु पृथक् पृथक् दातारों के भिन्न भिन्न पात्रों में दान देने के हेतुओं पर सूक्ष्मतम दृष्टिसे विचार करन पर मुख्य चार कारण दिखाई पड़ते हैं। १-कितने ही मनुष्य परका दुःख देख उन्हें अपनेसे जघन्य स्थिति में जानकर "दुखियोंकी सहायता करना हमारा कर्तव्य है" ऐसा विचारकर दान करते हैं। २-कितने ही मनुष्य दूसरोंके दुःख दूर करनेके लिये, परलोकमें सुख प्राप्ति और इस लोकमें प्रतिष्ठा (मान) के लिये दान करते हैं। ३-कुछ लोग अपने नामके लिये, कीर्ति पानेका लालच और जगतमें वाहवाहीके लिये अपने द्रव्यको परोपकारमें दान करते हैं। ४-और कितने ही मनुष्य त्यागको आत्मधर्म मानकर कर्त्तव्य बुद्धिसे दान देते हैं।

दाताके भेद

मुख्यतया दाताके तीन भेद हैं १-उत्तम दाता २-मध्यम दाता और ३-जघन्य दाता।

उत्तम दाता

जो मनुष्य निःस्वार्थ दान देते है, पराये दुःखको दूर करना ही जिनका कर्तव्य है, वे उत्तम दाता हैं। परोपकार करते

हुए भी जिनके अहम्बुद्धिका लेश नहीं वे सम्यक्ज्ञानी हैं और वही संसार सागरसे पार होते हैं, क्योंकि निष्काम (निस्वार्थ) किया गया कार्य बन्धका कारण नहीं होता। अथवा यों कहना चाहिए कि जो सर्वोत्तम मनुष्य हैं वे बिना स्वार्थ ही दूसरे का उपकार किया करते हैं। और अपने उन विशुद्ध परिणामों के बल से सर्वोत्तम पद के भोक्ता होते हैं। जैसे प्रखर सूर्यकी किरणों से सन्तप्त जगत को शीतांशु (चन्द्रमा) अपनी किरणों द्वारा निरपेक्ष शीतल कर देता है, उसी प्रकार महान पुरुषों का स्वभाव है कि वे संसार-ताप से संतप्त प्राणियों के ताप को हरण कर लेते हैं।

मध्यदाता

जो पराये दुःखको दूर करनेके लिये अपने स्वार्थ की रक्षा करते हुए दान करते हैं वे मध्यम दाता हैं। क्योंकि जहाँ इनके स्वार्थमें बाधा पहुँचती है वहीं पर यह परोपकारके कार्यको त्याग देते हैं। अतः इनके भी वास्तविक दयाका विकास नहीं होता। धनकी ममता अत्यन्त प्रबल है, धनको त्यागना सरल नहीं है, अतः ये यद्यपि अपनी कीर्तिके लिये ही धनका व्यय करते हैं तो भी जब उससे दूसरे प्राणियोंका दुःख दूर होता है तो इस अपेक्षासे इनके दानको मध्यम कहनेमें कोई सकोच नहीं होता।

जघन्य दाता

जो मनुष्य केवल प्रतिष्ठा और कीर्तिके लालचसे दान करते हैं वे जघन्य दाता हैं। दानका फल लोभके निरशन द्वारा शान्ति प्राप्त करना है, वह इन दाताओंको नहीं मिलती। क्योंकि दान देनेसे शान्तिके प्रतिबन्धक आभ्यन्तर लोभादि कषायका जब अभाव होता है तभी आत्मामें शान्ति मिलती है। जो कीर्ति-

प्रसारकी इच्छासे देते हैं उनके आत्म-गुण सुखके घातक कर्मकी हीनता तो दूर नहीं प्रत्युत बन्ध ही होता है। अतएव ऐसे दान देने वाले जो मानवगण हैं उनका चरित्र उत्तम नहीं। परन्तु जो मनुष्य लोभके वशीभूत होकर एक पाई भी व्यय करनेमें संकोच करते हैं उनसे ये उत्कृष्ट हैं।

दान के पात्र

ऊसर जमीन में, पानी से लबालब भरे तालाब में, सार और सुगन्धि हीन सेमर वृक्षों के जङ्गल में तथा दावानल में व्यर्थ ही धधकने वाले बहुमूल्य चन्दन में यदि मेघ समान रूप से वर्षा करता है तो भले ही उसकी उदारता प्रशंसनीय कही जा सकती है परन्तु गुणरत्न पारखी वह नहीं कहा जा सकता। इसी तरह पात्र, अपात्र की आवश्यकता और अनावश्यकता की पहिचान न कर दान देने वाला उदार भले ही कहा जाय परन्तु वह गुण विज्ञ नहीं कहला सकता। इसलिए साधारणतः पात्र अपात्र का विचार करने के लिए पात्र मनुष्यों को इन तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—

१. इस जगतमें अनेक प्रकारके मनुष्य देखे जाते है। कुछ मनुष्य तो ऐसे हैं जो जन्मसे ही नीतिशाली और धनाढ्य है।

२. कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो दरिद्रकुलमें उत्पन्न हुए हैं। उन्हें शिक्षा पानेका, नीतिके सिद्धान्तोंके समझानेका अवसर ही नहीं मिलता।

३. कुछ मनुष्य ऐसे हैं जिनका जन्म तो उत्तम कुलमें हुआ है किन्तु कुत्सित आचरणों के कारण अधम अवस्थामें काल-यापन कर रहे हैं।

इनके प्रति हमारा कर्तव्य

१. जो धनवान् तथा सदाचारी हैं अर्थात् प्रथमश्रेणी के मनुष्य हैं उन्हें देखकर हमको प्रसन्न होना चाहिए। उनके प्रति ईर्षादि नहीं करना चाहिए।

२. द्वितीय श्रेणी के जो दरिद्र मनुष्य हैं उनके कष्टअपहरण के लिये यथाशक्ति दान देना चाहिए। तथा उनको सत्य सिद्धान्तों का अध्ययन कराके सन्मार्ग पर स्थिर करना चाहिए।

३. तृतीय श्रेणी के मनुष्य जो कुमार्ग के पथिक हो चुके हैं, तथा जिनकी अधम स्थिति हो चुकी है वे भी दया के पात्र हैं। उनको दुष्ट आदि शब्दों से व्यवहार कर छोड़ देने से ही काम नहीं चलेगा अपितु उन्हें भी सामयिक सत्शिक्षा और सदुपदेशों से सुमार्ग पर लाकर उत्थान पथ का पथिक बनाना चाहिये।

दान के अपात्र

दान देते समय पात्र अपात्र का ध्यान अवश्य रखना चाहिए अन्यथा दान लेनेवाले की प्रवृत्ति पर दृष्टिपात न करने से दिया हुआ दान ऊसर भूमि में बोये गये बीज की तरह व्यर्थ ही जाता है।

जो विषयी हैं, लम्पटी है, नशेबाज हैं, जुआड़ी हैं, पर वञ्चक हैं उन्हें दान से एक तो उनके कुमार्गों की पुष्टि होती है, दूसरे दरिद्रों की वृद्धि और आलसी मनुष्यों की संख्या बढ़ती है और तीसरे अनर्थ परम्परा का बीजारोपण होता है। परन्तु यदि ऐसे मनुष्य बुभुक्षित या रोगी हों तो उन्हें (दान दृष्टि से नहीं अपितु) कृपादृष्टि से अन्न या औषधि दान देना वर्जित नहीं है। क्योंकि अनुकम्पा से दान देना प्राणीमात्र के लिए है।

दान के भेद

आचार्यों ने गृहस्थों के दान के संक्षेप में चार भेद बतलाये हैं १ आहारदान, २ औषधिदान, ३ ज्ञानदान, और ४ अभयदान। परन्तु ५ लौकिकदान और ६ आध्यात्मिक दान भी गृहस्थों का ही कर्तव्य है। ७ वां धर्मदान मुनियों का दान है। इस तरह दान के ७ भेद प्रमुख रूप से होते हैं।

आहारदान

जो मनुष्य क्षुधासे क्षामकुक्षि एवं जर्जर हो रहा है तथा रोग से पीडित है सर्व प्रथम उसके क्षुधा आदि रोगोंको भोजन और औषधि देकर निवृत्त करना चाहिए। आवश्यकता इसी बात की है। क्योंकि "बुभुक्षितः किं न करोति पापम्" (भूखा आदमी कौनसा पाप नहीं करता) इसीसे नीतिकारों ने "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्" (शरीर को धर्मसाधन का प्रमुख साधन) कहा है।

औषधिदान

"स्वस्थचित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति" शरीरके नीरोग रहने पर बुद्धिका विकाश होता है; तथा ज्ञान और धर्मके अर्जन का यत्न होता है। शरीरके नीरोग न रहनेपर विद्या और धर्मकी रुचि मन्द पड़ जाती है अतएव अन्न-जल और औषधि द्वारा दुःखसे दुःखी प्राणियोंके दुःखका अपहरण करके उन्हें ज्ञानादि के अभ्यासमें लगानेका यत्न प्रत्येक प्राणीका मुख्य कर्तव्य होना चाहिए। जिससे ज्ञान द्वारा यथार्थवस्तुको जान कर प्राणी इस संसारके जालमें न फँसे।

ज्ञानदान

अन्नदानकी अपेक्षा विद्यादान अत्यन्त उत्तम है क्योंकि अन्न

से प्राणीकी क्षणिक तृप्ति होती है किन्तु विद्यादानसे शाश्वती तृप्ति होती है। विद्याविलासियोंको जो एक अद्भुत मानसिक सुख होता है इन्द्रियोंके विलासियोंको वह अत्यन्त दुर्लभ है। क्योंकि वह सुख स्व-स्वभावोत्थ है जब कि इन्द्रियजन्य सुख पर जन्य है।

अभयदान

इसी तरह अभयदान भी बड़ा महत्वशाली दान है। इसका कारण यह है कि मनुष्यमात्रको ही नहीं, अपितु प्राणीमात्रको अपने शरीरसे प्रेम होता है। बाल हो अथवा युवा हो, आहो-स्वित्, वृद्ध हो, परन्तु मरना किसीको नष्ट नहीं। मरते हुए प्राणी की अभयदानसे रक्षा करना बड़े ही महत्व और शुभबन्धका कारण है।

लौकिक दान

उक्त दानों के अतिरिक्त लौकिक दान भी बहुत महत्वपूर्ण है। जगत में जितने प्रकार के दुःख हैं उतने ही भेद लौकिक दान के हो सकते हैं। परन्तु मुख्यतया जिनकी आज आवश्यकता है वे इस प्रकार हैं—

१ बुभुक्षित प्राणी को भोजन देना।

२ तृषित को पानी पिलाना।

३. वस्त्रहीन को वस्त्र देना।

४. जो देश व जातियाँ अनुचित पराधीनता के बन्धन में पड़कर परतन्त्र हो रही हैं उनको उस दुःख से मुक्त करना।

५. जो पाप कर्म के तीव्र वेग से अनुचित मार्ग पर जा रहे हैं उन्हें सन्मार्ग पर लाने की चेष्टा करना।

६. रोगी की परिचर्या और चिकित्सा करना।

७ अतिथि की सेवा करना।

८ मार्ग भूले हुए प्राणी को मार्ग पर लाना।

९. निर्धन व्यापारहीन को व्यापार में लगाना।

१०. जो कुटुम्ब-भार से पीड़ित होकर ऋण देने में असमर्थ हैं उन्हें ऋण से मुक्त करना।

११ अन्यायी मनुष्यों के द्वारा सताये जानेवाले मारे जानेवाले दीन, हीन, मूक प्राणियों की रक्षा करना।

आध्यात्मिक दान

जिस तरह लौकिक दान महत्वपूर्ण है उसी तरह आध्यात्मिक दान भी महत्वपूर्ण और श्रेयस्कर है, क्योंकि आध्यात्मिक दान स्वपर-कल्याण-महल की नीव है। वर्तमान में जिन आध्यात्मिक दानों की आवश्यकता है वे ये हैं—

१. अज्ञानी मनुष्यों को ज्ञान दान देना।

२ धर्म मे उत्पन्न शङ्काओं का तत्त्वज्ञान द्वारा समाधान करना।

३ दुराचरण में पतित मनुष्यों को हित-मित-प्रिय वचनों द्वारा सान्त्वना देकर सुमार्ग पर लाना।

४ मानसिक पीड़ा से दुखी जीवों को कर्मसिद्धान्त की प्रक्रिया का अवबोध कराकर शान्त करना।

५ अपराधियों को उनके अज्ञान का दोष मानकर उन्हें क्षमा करना।

६. सभी का कल्याण हो, सभी प्राणी सन्मार्गगामी हों, सभी सुखी समृद्ध और शान्ति के अधिकारी हों ऐसी भावना करना।

७ जो धर्म मे शिथिल हो गये हों उनको शुद्ध उपदेश देकर दृढ़ करना।

८. जो धर्म में दृढ़ हों उन्हें दृढ़तम करना।

६. किसी के ऊपर मिथ्या कलङ्क का आरोप न करना।

१०. निमित्तानुसार यदि किसी से किसी प्रकार का अपराध बन गया हो तो उसे प्रकट न करना अपितु दोषी व्यक्ति को सन्मार्ग पर लाने की चेष्टा करना।

११. मनुष्य को निर्भय बनाना।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जितनी मनुष्य की आवश्यकताएँ हैं उतने ही प्रकार के दान हो सकते हैं।

दुःख का अपहरण कर उन्नतम भावना प्राप्त करने का सुलभ मार्ग यदि है तो वह दान ही है अतः जहाँ तक बने दुखियों का दुख दूर करने के लिये सतत प्रयत्नशील रहो, हित मित प्रिय वचनों के साथ यथाशक्ति मुक्त हस्त से दान दो।

धर्मदान

जब तक प्राणी को धार्मिक शिक्षा नहीं मिलती तब तक उसके उन्नतम विचार नहीं होते, और उन विचारों के अभाव में वह प्राणी उस शुभाचरण से दूर रहता है जिसके बिना वह लौकिक सुख से भी वञ्चित रहकर धोबी के कुत्ते की तरह "घर का न घाट का" कहीं का भी नहीं रहता। क्योंकि यह सिद्धान्त है कि "वे ही जीव सुखी रह सकते हैं जो या तो नितान्त मूर्ख हों, या पारङ्गत दिग्गज विद्वान हों।" अत. धर्मदान सभी दानों से श्रेष्ठ और नितान्तावश्यक है।

इस परमोत्कृष्ट दान के प्रमुख दानी तीर्थङ्कर महाराज तथा गणधरादि देव हैं। इसीलिये आप्त के विशेषणों में "मोक्षमार्ग के नेता" यह विशेषण प्रथम दिया गया है। बड़े-बड़े राजा, महाराजा, यहाँ तक कि चक्रवर्तियों ने भी बड़े-बड़े दान दिये

किन्तु ससार में उनका आज कुछ भी अवशिष्ट नहीं है तथा तीर्थङ्कर महाराज ने जो उपदेश द्वारा दान दिया था उसके द्वारा बहुत से जीव तो उसी भव से मुक्ति लाभ कर चुके और अब तक भी अनेक प्राणी उनके बताये सन्मार्ग पर चलकर लाभ उठा रहे हैं। वे भव-बन्धन परम्परा के पाश से मुक्त हो गये, तथा आगामीकाल मे भी उस सुपथ पर चलनेवाले उस अनुपम सुख का लाभ उठावेंगे। कितने प्राणी उस पवित्र धर्मोपदेश से लाभ उठावेंगे यह कोई अल्पज्ञानी नहीं कह सकता।

धर्मदान के वर्तमान दाता

वर्तमान मे (गणधर, आचार्य आदि परम्परा से) यह दान देने की योग्यता संसार से भयभीत, बाह्याभ्यन्तर परिग्रह विहीन, ज्ञान-ध्यान-तप में आसक्त, वीतराग, दिगम्बर मुनिराज के ही है। क्योंकि जब हम स्वय विषय कषायों से दग्ध हैं तब इस दान को कैसे करेंगे ? जो वस्तु अपने पास होती है वही दान दी जा सकती है। हम लोगों ने तो उस धर्म को जो कि आत्मा की निज परणति है कषायाग्नि से दग्ध कर रक्खा है। यदि वह वस्तु आज हमारे पास होती तब हम लोग दुःखों के पात्र न होते। उसके बिना ही आज संसार मे हमारी अवस्था कष्टप्रद हो रही है। उस धर्म के धारक परम दिगम्बर निरपेक्ष परोपकारी, विश्वहितैषी वीतराग ही हैं अतएव वही इस दान को कर सकते हैं। इसी से उसे गृहस्थदान के अन्तर्गत नहीं लिया।

धर्मदान की महत्ता

यह दान सभी दानों मे श्रेष्ठतम है, क्योंकि इतरदानो के द्वारा प्राणी कुछ काल के लिये दुःख से विमुक्त-सा हो जाता है

परन्तु यह दान ऐसा अनुपम और महत्वशाली है कि एक बार भी यदि इसका सम्पर्क हो जावे तो प्राणी जन्म-मरण के क्लेशों से विमुक्त होकर निर्वाण के नित्य आनन्द सुखों का पात्र हो जाता है। अतएव सभी दानों की अपेक्षा इस दान की परमावश्यकता है। धर्मदान ही एक ऐसा दान है जो प्राणियों को संसार दुःख से सदा के लिये मुक्तकर सच्चे सुख का अनुभव कराता है।

अपनी आत्मताड़ना की परवाह न करके दूसरों के लिये मीठे स्वर सुनानेवाले मृदङ्ग की तरह जो अपने अनेक कष्टों की परवाह न कर विश्वहित के लिये निरपेक्ष निस्वार्थ उपदेश देते हैं वे महात्मा भी इसी धर्मदान के कारण जगत-पूज्य या विश्व-वन्द्य हुए हैं।

इस तरह धर्मदान की महत्ता जानकर हमें उस दान को प्राप्त करने का पात्र होना चाहिये। सिहनी का दूध स्वर्ण के पात्र में रह सकता है, धर्मदान सम्यग्ज्ञानी पात्र में रह सकता है।

पाप का बाप लोभ।

परन्तु मनुष्य लोभ के आवेग में आकर किन-किन नीच कृत्यों को नहीं करते? और कौन कौन से दुःखों को भोग कर दुर्गति के पात्र नहीं होते? यह उन एक दो ऐतिहासिक व्यक्तियों के जीवन से स्पष्ट हो जाता है। जिनका नाम इतिहास के काले पृष्ठों में लिखा रह जाता है।

गजनी के शासक, लालची लुटेरे महमूद गजनवी ने ई०सन् १००० और १०२६ के बीच २६ वर्ष में भारतवर्ष पर १७ बार

आक्रमण किया, धन और धर्म लूटा! मंदिर और मूर्तियों का ध्वंस कर अगणित रत्नराशि और अपरमित स्वर्ण चांदी लूटी !! परन्तु जब इतने पर भी लोभ का संवरण नहीं हुआ तब सोमनाथ मंदिर के काठ के किवाड़ और पत्थर के खम्भे भी न छोड़े, ऊँटों पर लाद कर गजनी ले गया !!!

दूसरा लोभी था (ईशवी सन् के ३२७ वर्ष पूर्व) ग्रीसका बादशाह सिकन्दर; जिसने अनेक देशों को परास्तकर उनकी अतुल सम्पत्ति लूटी, फिर भी सारे संसार को विजित करके ससार भर की सम्पत्ति हथयाने की लालसा बनी रही !

लोभ के कारण दोनों का अन्त समय दयनीय दशा में व्यतीत हुआ। लालच और लोभवश हाय ! हाय !! करते मरे, पर इतने समर्थ शासक होते हुए भी एक फूटी कौड़ी भी साथ न ले जा सके।

दया का क्षेत्र।

प्रथम तो दया का क्षेत्र १-अपनी आत्मा है, अत. उसे ससारवर्धक दुष्ट विकल्पों से बचाते रहना, और सम्यग्दर्शनादि दान द्वारा सन्मार्ग में लाने का उद्योग करते रहना चाहिये। दूसरे दया का क्षेत्र २-अपना निज घर है फिर ३-जाति ४-देश तथा ५-जगत है। अन्त मे जाकर यही "वसुधैव कुटुम्बकम्" हो जाता है।

अनुरोध।

इस पद्धति के अनुकूल जो मनुष्य स्वपरहित के निमित्त दान देते हैं वही मनुष्य साक्षात् या परम्परा अतीन्द्रिय अनुपम सुखके भोक्ता होते हैं। अतएव आत्म हितैषी महाशयों का कर्तव्य है

कि समयानुकूल इस दानपद्धति का प्रसार करें। भारतवर्ष में दान की पद्धति बहुत हैं किन्तु विवेक की विकलता के कारण दान के उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो पाती। आशा है कि हमारा धनिक वर्ग उक्त बातों पर ध्यान देते हुए पद्धति के अनुकूल दान देकर ही सुयश का भागी बनेगा।

स्वोपकार और परोपकार

निश्चय नय से—

१ परोपकारादि कोई वस्तु नहीं परन्तु हम लोग आत्मीय कषाय के वेग में परोपकार का बहाना करते हैं। परोपकार न कोई करता है न हो ही सकता है। मोही जीवों की कल्पना का जाल यह परोपकारादि कार्य है।

२ कोई भी शक्ति ऐसी नहीं जो किसी का अपकार और उपकार कर सके। उपकार और अपकार आत्मीय शुभाशुभ परिणामों से होता है। निमित्त की मुख्यता से परकृत व्यवहार होता है।

३. आज तक कोई भी व्यक्ति ससार मे ऐसा नहीं हुआ जिसके द्वारा पर का उपकार हुआ हो। इस सम्बन्ध में जैसी यह श्रद्धा अतीत काल की है वैसी ही वर्तमान और भविष्य की है।

४. जिन्होंने जो भी परोपकार किया, उसका अर्थ यह है कि जो कुछ काम जीव करता है वह अपनी कषायजन्य पीड़ा के शमन के अर्थ करता है; फिर चाहे यह काम पर के उपकार का हो या अपकार का हो।

५. आचार्य यह सोचकर कि लोगों को तत्त्वज्ञान का लाभ हो, शास्त्र की रचना करते हैं और उससे जीवों को तत्त्वज्ञान भी होता है; किन्तु यथार्थ दृष्टि से विचार करो तो आचार्य ने यह कार्य पर के लिये नहीं किया अपितु संज्वलन कषाय के उदय में उत्पन्न हुई वेदना के प्रतीकार के लिये ही उनका यह प्रयास हुआ। पर को तत्त्वज्ञान हो यह व्यवहार है। उस कषाय में ऐसा ही होता है। ऐसे शुभ कार्य भी अपने उपकार के हेतु होते हैं पर के उपकार के हेतु नहीं।

व्यवहार नय से—

६. व्यवहार नय से परोपकार माना जाता है अतः परोपकार को तो मिथ्यादृष्टि भी कर सकता है बल्कि यों कहिए परोपकार तो मिथ्यादृष्टि से ही होता है। सम्यग्दृष्टि से परोपकार हो जावे यह दूसरी बात है परन्तु उसके आशय में उसकी उपादेयता नही। क्योंकि औदयिक भावों का सम्यग्दृष्टि अभिप्राय से कर्ता नहीं, क्योंकि वे भाव अनात्मक हैं।

७ मनुष्य उपकार कर सकता है परन्तु जब तक अपने को नहीं समझा पर का उपकार नहीं कर सकता।

८. परोपकार की अपेक्षा स्वोपकार करनेवाला व्यक्ति जगत का अधिक उपकार कर सकता है।

९. संसार की विडम्बना को देखो, सब स्वार्थ के साथी हैं। परन्तु धर्मबुद्धि से जो पर का उपकार करोगे वही साथ जावेगा।

१०. "परोपकार से बढ़कर पुण्य नहीं" इसका यही अर्थ है कि निजत्व की रक्षा करो।

११ परोपकार के लिये उत्सर्ग आवश्यक है, उत्सर्ग के लिये उदारता आवश्यक है, और उदारता के लिए संसार से भीरुता आवश्यक है।

१२. गृहस्थावस्था में अपने अनुकूल व्यय करो तथा अपनी रक्षा में जो व्यय किया जावे उसमे परोपकार का ध्यान रखो क्योंकि पर पदार्थ में सबका भाग है।

१३ "हम परोपकार करते हैं" यह भावना न होनी चाहिए। इस समय हमारे द्वारा ऐसा ही होना था यही भावना परोपकार में फलदायक होगी।

१४ जहाँ तक हो सके सभी को ऐसा नियम करना चाहिए कि लाभ का दशांश द्रव्य परोपकार में लगे।

१५ भगवान महावीर और बुद्ध राजसी ठाठ और स्वर्ग जैसे सुखों को छोड़कर दूसरों को उपदेश देते फिरे यह उन मूक प्राणियों की रक्षा और मानवता के उत्थान के लिये ही तो था, तब क्या परोपकार नहीं हुआ? महात्मा गांधी, प० जवाहरलाल नेहरू, सरदार बल्लभभाई पटेल, देशरत्न डा० राजेन्द्रप्रसाद और मौलाना अबुलकलाम आजाद प्रभृति नेताओं ने जो कष्ट सहन किये, अपना सर्वस्व छोड़कर देश की स्वतन्त्रता के लिये जो अनेक प्रयत्न किये वह भी परोपकार ही है अतः जहाँ तक बने स्वोपकार के साथ परोपकार करना मत भूलो।

१६. अपने स्वार्थ के लिये पर का अपकार करना निरी पशुता है।
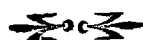
संयोग और वियोग

१ "वियोग से दुःख होता है" यह मैं नहीं मानता क्योंकि वियोग मोक्ष का कारण है जब कि परका संयोग दुःख का कारण है।

२ वियोग से कैवल्य होता है वही आत्मा की निजावस्था है।

३ यदि वियोग में अपने को नहीं पहिचाना तब संयोग में क्या पहिचान होगी।

४ जब हमको किसी इष्ट पदार्थ का वियोग हो जाता है तब हमारी आत्मा में अनवरत उस पदार्थ का स्मरण रहता है, साथ ही साथ उस पदार्थ में इष्टता मानने से मोहोदय होता है। यदि स्मरण काल मे मोहोदय से कलुषता नहीं हुई तब कदापि दुःखी नहीं हो सकते। यही कारण है कि दुकान में क्षति होने से जैसा दुःख मालिक को होता है, वैसा मुनीम को नही। इसका कारण यह है कि मुनीम को मोहोदय कृत भाव नहीं है। इससे यह सिद्धान्त स्वीकार करना चाहिए कि पर पदार्थ का सयोग अथवा वियोग सुख और दुःख का जनक नहीं।

५ सयोग और वियोग में सुख दुःख का कारण ममत्व भाव है। ममत्व भाव से ही परसयोग में सुख और वियोग

में दुख होता है और कहीं पर जिस पदार्थ से हमारा अनिष्ट होता है उसमें हमारी ममत्वबुद्धि न होकर द्वेषबुद्धि होती है। अतः अनिष्ट पदार्थ के संयोग में दुःख और वियोग में सुख होता है। वास्तव में ये दोनों कल्पनाएँ अनात्मधर्म होने से अनुपादेय ही हैं।

६. जहाँ संयोग है वहाँ वियोग है और जहाँ वियोग है वहाँ संयोग है। अन्य की कथा छोड़िये संसार का जहाँ वियोग होता है वहाँ मोक्ष का संयोग होता है।

पवित्रता

१ पवित्रता वह गुण है जिसके प्राप्त होने पर मनुष्य संसार सागर से पार होता है।

२ आप अपने हृदय को इतना पवित्र बनाइये कि उसमें प्राणीमात्र से शत्रुत्व की भावना दूर हो जाय। अब भी आपके हृदय में भय है कि अँग्रेज कोई षड्यन्त्र रचकर हमारी स्वतन्त्रता को पुनः हथयाने का प्रयत्न करेंगे? परन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है। जब आपका हृदय अपवित्र रहे। यदि आपका हृदय पवित्र रहेगा तो आपकी स्वतन्त्रता छीनने की शक्ति किसी में नहीं।

३ हृदय की पवित्रता से क्रूर से क्रूर प्राणी अपनी दुष्टता छोड़ देते हैं।

४. पवित्रता के कारण एक गाँधी ने सारे भारतवर्ष को स्वतन्त्रता प्रदान की यदि भारतवर्ष में चार गाँधी बन जाएँ तो सारा संसार स्वतन्त्र हो जाय। मेरा विश्वास है कि हमारे नेताओं ने जिस पवित्र भावना से स्वराज प्राप्त किया है उसी पवित्र भावना से वे उसकी रक्षा भी कर सकेंगे।

५. स्पृश्यास्पृश्य (छूत अछूत) की चर्चा लोग करते हैं परन्तु धर्म कब कहता है कि तुम अस्पृश्यों को नीच समझो।

तुम्हीं लोग तो अस्पृश्यों को जूठा खिलाते हो और यहाँ बड़ी बड़ी बातें बनाते हो। नियम कीजिये कि हम अस्पृश्यों को अपने जैसा भोजन देंगे। फिर देखिये आपके प्रति उनका हृदय कितना पवित्र और ईमानदार बनता है।

६ हृदय का असर हृदय पर पड़ता है। आप धोबी का कपड़ा उठाने में दोष समझते हैं परन्तु शरीर पर चर्बी से सने कपड़े बहुत शौक से धारण करते हैं क्या यही सद्धर्म है ?

७ जब आपके हृदय में अपनी ही संस्थाओं के प्रति सहयोग की पवित्र भावना नहीं, अपनी ही संस्थाओं का आप एकीकरण नहीं कर सकते फिर किस मुँह से कहते हैं कि हिन्दुस्तान पाकिस्तान एक हो जायँ ?

८ पवित्रता का सर्वश्रेष्ठ साधक आप जिन मन्दिरों को कहते हैं उनमें किसी में लाखों की सम्पत्ति व्यर्थ पड़ी है तो किसी में पूजा के उपकरण भी साबित नहीं हैं। एक मन्दिर में संगमर्मर के टाइल जड़ रहे हैं तो दूसरे मन्दिर की छत चूत रही है। क्या यही धर्म है ? यही पवित्रता है ?

क्षमा

१. क्रोध चारित्रमोह की प्रकृति है उससे आत्मा के संयम गुण का घात होता है। क्रोध के अभाव में प्रकट होनेवाला क्षमा गुण संयम है, चारित्र है क्योंकि राग द्वेष के अभाव को ही चारित्र कहते हैं।

२ क्षमा सबसे उत्तम धर्म है जिसके क्षमा धर्म प्रकट हो जावेगा उसके मार्दव, आर्जव एवं शौच धर्म भी अवश्यमेव प्रकट हो जावेंगे। क्रोध के अभाव से आत्मा में शान्ति गुण प्रकट होता है। वैसे तो आत्मा मे शान्ति सदा विद्यमान रहती है, क्योंकि वह आत्मा का गुण है, स्वभाव है, गुण गुणी से दूर कैसे हो सकता है? परन्तु निमित्त मिलने पर वह कुछ समय के लिए तिरोहित हो जाता है। स्फटिक स्वभावतः स्वच्छ होता है पर उपाधि के संसर्ग से अन्यरूप हो जाता है। पर वह क्या उसका स्वभाव कहलाने लगेगा? नहीं अग्नि का संसर्ग पाकर जल ऊष्ण हो जाता है पर वह उसका स्वभाव तो नहीं कहलाता। स्वभाव तो शीतलता ही है जहाँ अग्नि का सम्बन्ध दूर हुआ कि फिर शीतल का शीतल हो जाता है।

३. क्रोध के निमित्त से आदमी पागल हो जाता है और इतना पागल कि अपने स्वरूप तक को भूल जाता है। वस्तु की यथार्थता उसकी दृष्टि से लुप्त हो जाती है। एक ने एक को

घूँसा मार दिया वह उसका घूँसा काटने को तैयार हो गया पर इससे क्या मिला ? घूँसा मारने का जो निमित्त है उसे दूर करना था।

४. क्रोध में यह मनुष्य कुक्कुर वृत्ति पर उतारू हो जाता है। कोई कुत्ते को लाठी मारता है तो वह लाठी को दाँतो से चबाने लगता है पर सिंह बन्दूक की ओर न झपट कर बन्दूक मारने वाले की ओर झपटता है। विवेकी मनुष्य की दृष्टि सिंह की तरह होती है वह मूल कारण को दूर करने का प्रयत्न करता है। आज हम क्रोध का फल प्रत्यक्ष देख रहे हैं लाखों निरपराध प्राणी मारे गये और मारे जा रहे हैं। इसलिए क्षमा का वह जल आवश्यक है जो क्रोध ज्वाला का शमन कर सके।

५ क्रोध शान्ति के समय कौन-सा अपूर्व कार्य नहीं होता मोक्ष मार्ग में प्रवेश होना ही अपूर्व कार्य है, शान्ति के समय उसकी प्राप्ति सहज ही हो सकती है। आप लोग प्रयत्न कीजिये कि मोक्ष-मार्ग में प्रवेश हो और संसार के अनादि बन्धन खुल जायँ।

६. जीवन के प्रारम्भ मे जिसने क्षमा धारण नहीं की वह अन्तिम समय क्या क्षमा करेगा ? मैं तो आज क्षमा चाहता हूँ।

७. आज वाचनिक क्षमा की आवश्यकता नहीं है हार्दिक क्षमा से ही आत्मा का कल्याण हो सकता है। क्षमा के अभाव में अच्छे से अच्छे आदमी बरबाद हो जाते हैं। दरभंगा में दो भाई थे दोनों इतिहास के विद्वान थे एक बोला कि आला पहले हुआ है दूसरा बोला कि ऊदल, इसीसे दोनों मे लड़ाई

हो पड़ी आखिर मुकदमा चला और जागीदार से किसान की हालत में आ गये । क्रोध से किसका भला हुआ है ?

८. क्षमा सर्व गुणों की भूमि है इसमें सब गुण सरलता से विकसित हो जाते है । क्षमा से भूमि की शुद्धि होती है, जिसने भूमि को शुद्ध कर लिया उसने सब कुछ कर लिया । एक गाँव में दो आदमी थे एक चित्रकार दूसरा अचित्रकार । अचित्रकार चित्र बनाना तो नहीं जानता था पर था प्रतिभाशाली । चित्रकार बोला कि मेरे समान कोई चित्र नहीं बना सकता, दूसरे को उसकी गर्वोक्ति सह्य नहीं हुई उसने झट से कह दिया कि मैं तुमसे अच्छा चित्र बना सकता हूँ, विवाद चल पड़ा । अपना अपना कौशल दिखाने के लिये दोनों तुल पड़े । तय हुआ कि दोनों चित्र बनावे फिर अन्य परीक्षकों से परीक्षा कराई जाय । एक कमरे की आमने सामने की दीवालों पर दोनों चित्र बनाने को तैयार हुए । कोई किसी का चित्र न देख सके इसलिये बीच में पर्दा डाल दिया गया । चित्रकार ने कहा कि मैं १५ दिन में चित्र तैयार कर लूँगा इतने ही समय में तुझे भी करना होगा । उसने कहा कि मैं पौने पन्द्रह दिन में तैयार कर दूँगा घबड़ाते क्यों हो । चित्रकार चित्र बनाने में लग गया और दूसरा दीवाल साफ करने में । उसने पन्द्रह दिन में दीवाल इतनी साफ कर दी कि काँच के समान स्वच्छ हो गई । पन्द्रह दिन बाद लोगों के सामने बीच का परदा हटाया गया चित्रकार का पूरा चित्र उस स्वच्छ दीवाल में इस तरह प्रतिबिम्बित हो गया कि उसे स्वयं अपने मुँह से कहना पड़ा कि तेरा चित्र अच्छा है । क्या उसने चित्र बनाया था ? नहीं, केवल जमीन ही स्वच्छ की थी पर उसका चित्र बन गया और प्रतिद्वन्द्वी की अपेक्षा अच्छा रहा ।

९

आप लोग क्षमा धारण करें चाहे उपवास एकासन आदि व्रत न करें क्योंकि क्षमा ही धर्म है और धर्म ही चारित्र है।

९. यह जीव अनादिकाल से पर पदार्थ को अपना समझ कर व्यर्थ ही सुखी दुखी होता है जिसे यह सुख समझता है वह सुख नहीं है सच्चा सुख क्षमता में है। वह ऊंचाई नहीं जहाँ से फिर पतन हो, वह सुख नहीं जहाँ फिर दुख की प्राप्ति हो।

१० सच्चा सुख क्षमा मे है शेष जो है वह वैषयिक और पराधीन हैं, वाधा सहित हैं, उतने पर भी नष्ट हो जाने वाले हैं और अगामी दुःख के कारण हैं। कौन समझदार इसे सुख कहेगा ?

११. इस शरीर से आप स्नेह करते हैं पर इस शरीर में है क्या ? आप ही बताओ माता पिता के रज वीर्य से इसकी उत्पत्ति हुई, हड्डी मांस, रुधिर आदि का स्थान है उसीकी फुलवारी है। यह मनुष्य पर्याय साँटे के समान है। सांटे की जड़ तो सड़ी होने से फेक दी जाती है, बाँड़ भी बेकाम होता है, मध्य में कीड़ा लग जाने से वेस्वाद हो जाता है। इसी प्रकार इस मनुष्य की वृद्ध अवस्था शरीर के शिथिल हो जाने से गन्ने की सड़ी जड़ों के समान बेकार है। बाल अवस्था अज्ञानी की अवस्था है, अतः गन्ने की वांड के सदृश्य वह भी बेकार है मध्य दशा (युवावस्था) अनेक रोग और संकटों से भरी हुई है उसमें कितने भोग भोगे जा सकेंगे ? पर यह जीव अज्ञान वश अपनी हीरा सी मनुष्य पर्याय व्यर्थ ही खो देता है।

१२ जिस प्रकार बात की व्याधि से मनुष्य के अंग अग दुखने लगते हैं उसी प्रकार कषाय से, विषयेच्छा से, इसकी आत्मा का प्रत्येक प्रदेश दुखी हो रहा है। इसलिए मनुष्य को चाहिये कि क्षमाधर्म का अमृत पाकर अमर होने की चेष्टा करे।

समाधिमरण

१. समाधि निस्पृह पुरुषों के तो निरन्तर रहती है परन्तु जन्म से जन्मान्तर होने का ही नाम मरण है, और जहाँ साम्यभाव से प्राण विसर्जन होता है उसे समाधिमरण कहते हैं।

२. समाधिमरण के लिये प्रायः निर्मल निमित्त होने चाहिए।

३. जिनका उत्तम भविष्य है उनको घोर उपसर्ग आदि (समाधिमरण के विरुद्ध प्रबल कारणों) के उपस्थित होने पर भी उत्तम गति हुई। इसलिए निमित्त कारणों के ही जाल में फँसा रहना अच्छा नहीं।

४. समाधिमरण के लिये आत्मपरिणामों को निर्मल करने में यह अपना पुरुषार्थ लगा देना चाहिए क्योंकि जिन जीवों के निरन्तर निर्मल परिणाम रहते हैं वे नियम से सद्गति के पात्र होते हैं।

५. समाधि के लिये आचार्यों की आज्ञा है कि काय को कृश करने से पहिले कषाय को कृश करो, क्योंकि काय पर द्रव्य है उनकी कृशता और पुष्टता न तो समाधिमरण में साधक है न बाधक है। जबकि कषाय अनादिकाल से स्वभाविक

पद को बाधक है। क्योंकि कषाय के सद्भाव में जब आत्मा कलुषित हो जाती है तब मद्यपायी की तरह नाना प्रकार की विपरीत चेष्टाओं द्वारा अनन्त संसार की यातनाओं का ही भोक्ता रहती है और जब कषायों की निर्मूलता हो जाती है तब आत्मा अनायास अपने स्वाभाविक पद की स्वामिनी हो जाती है। अतः समाधिमरण के लिए जो औदयिक रागादिक हो उनमें आत्मीय बुद्धि न होना यही अर्थ कषाय की कृशता का है। केवल कषायों को कृशता ही उपयोगिनी है।

६ समाधिमरण करने वालों को बाह्य कारणों को गौड़ कर केवल रागादिक की कृशता पर निरन्तर उद्यत रहना श्रेयस्कर है।

७. समाधिमरण के समय प्रज्ञा होना आवश्यक है क्योंकि प्रज्ञा एक ऐसी प्रबल छैनी है कि जिसके पड़ते ही बन्ध और आत्मा जुदे जुदे हो जाते हैं—आत्मा और अनात्मा का ज्ञान कराना प्रज्ञा के अधीन है। जब आत्मा और अनात्मा का ज्ञान होगा तब ही तो मोक्ष हो सकेगा। परन्तु इस प्रज्ञा रूपी छेनी का प्रयोग बड़ी सावधानी के साथ करना चाहिए। निज का अंश छूटकर पर में न मिल जाय और पर का अंश निज में न रह जाय—यही सावधानी का तात्पर्य है। समाधिमरण के सन्मुख व्यक्ति के शरीर से ममत्व और पर पदार्थों से आत्मीयता का भाव दूर कराकर सद्गति की कामना के लिये उसे सदा इन बातों का स्मरण दिलाते रहना चाहिये—

"धन धान्यादिक जुदे हैं, स्त्री पुत्रादिक जुदे हैं, शरीर जुदा है, रागादिक भाव कर्म जुदे हैं, द्रव्य कर्म जुदे हैं, मतिज्ञानादि औपशमिक ज्ञान जुदे हैं-यहाँ तक कि ज्ञान में

प्रतिबिम्बित होनेवाले ज्ञेय के आकार भी जुदे हैं। इस प्रकार स्वलक्षण के बल से भेद करते करते अन्त में जो शुद्ध चैतन्य भाव बाकी रह जाता है वही निज का अंश है, वही उपादेय है, उसी में स्थिर हो जाना मोक्ष है। प्रज्ञा के द्वारा जिसका ग्रहण होता है वही चैतन्य रूप "मैं" हूँ। इसके सिवाय अन्य जितने भाव हैं निश्चय से वे पर द्रव्य हैं-पर पदार्थ हैं। आत्मा ज्ञाता है दृष्टा है। वास्तव में ज्ञाता दृष्टा होना ही आत्मा का स्वभाव है पर इसके साथ जो मोह की पुट लग जाती है वही समस्त दुःखों का मूल है। अन्य कर्म के उदय से तो आत्मा का गुण रुक जाता है पर मोह का उदय इसे विपरीत परिणमा देता है। अभी केवलज्ञानावरण का उदय है उसके फल स्वरूप केवल ज्ञान प्रकट नहीं हो रहा है परन्तु मिथ्यात्व के उदय से आत्मा का आस्तिक्य गुण अन्यथा रूप परिणम रहा है। आत्मा का गुण रुक जाय इससे हानि नहीं पर मिथ्या रूप हो जाने में महान हानि है।

एक आदमी को पश्चिम की ओर जाना था कुछ दूर चलने पर उसे दिशा-भ्रान्ति हो गई, वह पूर्व को पश्चिम समझकर चलता जा रहा है उसके चलने में बाधा नहीं आई पर ज्यों-ज्यों चलता जाता है त्यों-त्यों अपने लक्ष्य स्थान से दूर होता जाता है।

एक आदमी को दिशा भ्रान्ति तो नहीं हुई पर पैर में लकवा मार गया इससे चलते नहीं बनता। वह अचल होकर एक स्थान पर बैठा रहता है, पर अपने लक्ष्य का बोध होने से वह उससे दूर तो नहीं हुआ—कालान्तर में ठीक होने से शीघ्र ही ठिकाने पर पहुँच जायगा।

"एक आदमी को आँख में कामला रोग हो गया जिससे उसका देखना बन्द तो नहीं हुआ, देखता है पर सभी वस्तुएँ

पीली-पीली दिखती है जिससे उसे वर्ण का वास्तविक बोध नहीं हो पाता।

एक आदमी परदेश गया वहाँ उसे कामला रोग हो गया। घर पर स्त्री थी उसका रंग काला था जब वह परदेश से लौटा और घर आया तो उसे स्त्री पीली-पीली दिखी, उसने उसे भगा दिया कि मेरी स्त्री तो काली थी तू यहाँ कहाँ से आई। वह कामला रोग होने से अपनी ही स्त्री को पराई समझने लगा।

इसी प्रकार मोह के उदय में यह जीव १–कभी भ्रम में अपने लक्ष्य से विपरीत ही चलता है, २–कभी शक्ति से असमर्थ होकर कुछ काल के लिये अकिंचित्कर हो जाता है, ३–कभी विपरीत ज्ञान होने पर उलटा समझता है तो कभी ४–अपनी वस्तु को पराई समझने लगता है और कभी कभी पर को अपनी। यही संसार का कारण है। प्रयत्न ऐसा करो कि जिससे पाप का बाप यह मोह आत्मा से निकल जाय। हिंसादिक पाँच पाप अवश्य हैं पर वे मोह के समान अहितकर नहीं है। पाप का बाप यही मोह कर्म है यही दुनिया को नाच नचाता है।

मोह दूर हो जाय और आत्मा के परिणाम निर्मल हो जाय तो संसार से आज छुट्टी मिल जाय।

ज्ञान के भीतर जो अनेक विकल्प उठते हैं उसका कारण मोह ही है। किसी व्यक्ति को आपने देखा यदि आपके हृदय में उसके प्रति मोह नहीं है तो कुछ भी विकल्प उठने का नहीं आपको उसका ज्ञान भर हो जायगा पर जिसके हृदय में उसके प्रति मोह है उसके हृदय में अनेक विकल्प उठते हैं यह विद्वान है यह अमुक कार्य करता है इसने अभी भोजन किया या नहीं आदि। बिना मोह के कौन पूछने चला कि इसने अभी खाया है या नहीं ?

मोह के निमित्त से ही आत्मा में एक पदार्थ को जान कर दूसरा पदार्थ जानने की इच्छा होती है। जिसके मोह निकल जाता है उसे एक आत्मा ही आत्मा का बोध होने लगता है उसकी दृष्टि बाह्य ज्ञेय की ओर जाती ही नहीं है ऐसी दशा में आत्मा आत्मा के द्वारा आत्मा को आत्मा के लिए आत्मा से आत्मा में ही जानने लगता है। एक आत्मा ही षट्कारक रूप हो जाता है। सीधी बात यह है कि उसके सामने से कर्ता-कर्म करणादि का विकल्प हट जाता है।

७ चेतना यद्यपि एक रूप है फिर भी वह सामान्य विशेष के भेद से दर्शक और ज्ञान रूप हो जाता है। जब कि सामान्य और विशेष पदार्थ मात्र का स्वरूप है तब चेतना उसका त्याग कर सकती है। यदि वह उसे भी छोड़ दे तब तो अपना अस्तित्व ही खो बैठे और इस रूप मे वह जड़ रूप हो आत्मा का भी अन्त कर दे सकती है इसलिए चेतना का द्विविध परिणाम होता ही है। हाँ चेतना के अतिरिक्त अन्य भाव आत्मा के नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं समझने लगना कि आत्मा में सुख वीर्य गुण नहीं है। उसमें तो अनन्त गुण विद्यमान हैं और हमेशा रहेंगे। परन्तु अपना और उन सबका परिचायक होने से मुख्यता चेतना को ही दी जाती है। जिस प्रकार पुद्गल में रूप रसादि गुण अपनी अपनी सत्ता लिये हुए विद्यमान रहते हैं उसी प्रकार आत्मा में भी ज्ञान दर्शन आदि अनेक गुण अपनी अपनी सत्ता को लिये हुये विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार चेतनातिरिक्त पदार्थों को पर रूप जानता हुआ ऐसा कौन बुद्धिमान है जो कहे कि ये मेरे हैं। शुद्ध आत्मा को जानने वाले के ये भाव तो कदापि नहीं हो सकते।

इसलिये यदि सद्गति और शास्वत सुख की अभिलाषा है तो स्त्री पुत्रादि कुटुम्बियों से, शरीर धनधान्यादि परपदार्थों से मोह एवं आत्मीयता को छोड़ अपनी अनन्त शक्ति पर विश्वास करो।

विद्यार्थियों को शुभ सन्देश

विद्यार्थियों को शुभ सन्देश

१ विद्यार्थी जीवन की सार्थकता इसी में है कि विद्यार्थी अपनी शक्ति का सदुपयोग करें। छात्रों का जीवन तभी सार्थक हो सकता है जब वे अपने जीवन की रक्षा और अपने बहुमूल्य समय का सदुपयोग करें। बुद्धि का सदुपयोग ही उसका सच्चा विकास है। अन्यथा जिससे बाल्यकालमें ऐसी आशा थी कि यह यौवनावस्था मे संसार मे ऐसा प्रसिद्ध व्यक्ति होगा कि ससार का कल्याण करेगा, वह अपना ही कल्याण न कर सका! केवल गल्पवाद के रसिक होने से छात्र जीवन की सार्थकता नहीं है यह तो उसका अपव्यय है।

२ विद्यार्थी को सबसे पहिले शिक्षाका महत्त्व समझना चाहिये जिसके लिये वह घर द्वार छोड़कर यहां वहां दौड़ा दौड़ा फिरता है। शिक्षा के महत्त्व के संबध में केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि शिक्षा से इस लोक की तो कथा ही छोड़ो पर लोक मे भी सुख मिलता है। शिक्षा का स्वरूप ही प्राणियों को सुख देना है क्योंकि शिक्षा ही एक ऐसा अमोघ मन्त्र है जो दुःखातुर ससार को सच्चा सुख प्रदान कर सकता है।

३. जितने संस्कृत के विद्वान हैं वे तो अपने बालकों को अर्थकरी विद्या (अँग्रेजी) पढ़ाने में लगा देते हैं। जो बालक

सामान्य परिस्थिति वालोंके हैं उनकी यह धारणा होती है कि संस्कृत विद्या पढ़ने से कुछ लौकिक वैभव तो मिलता नहीं, पारलौकिक की आशा तब की जावे जब कुछ धनार्जन हो, अत. वे बालक भी संस्कृत पढ़ने से उदास हो जाते हैं । रहे धनाढ्यों के बालक सो उन के अभिभावकों के विचार ही ये रहते हैं कि हमको पण्डित थोड़े ही बनाना है जो हमारे बालक संस्कृत पढ़ने के लिये दर दर भटके। हमारे ऊपर जब धन की कृपा है तब अनायास बीसों पण्डित हमारे यहां आते ही रहेंगे अतः वे भी वही अर्थकरी विद्या (अंग्रेजी) पढ़ाकर बालकों को दुकान दारी के धन्धेमे लगा देते हैं। इस तरह आज कल पाश्चात्य विद्याकी तरफ ही लोगों का ध्यान है और जो आत्मकल्याण की साधक संस्कृत और प्राकृत विद्या है उस ओर समाज का लक्ष्य नहीं। परन्तु छात्रों को इससे हताश नही होना चाहिये। यह सत्य है कि लौकिक सुखों के लिय पाश्चात्य विद्या (अंग्रेजी) का अभ्यास करके अनेक यत्नों से धनार्जन कर सकते हैं परन्तु लौकिक सुख स्थायी नही, नश्वर है अनेक आकुलताओं का घर है। इसलिये विद्यार्थियोका कर्तव्य है कि वे प्राचीन संस्कृत विद्या के पारगामी पण्डित बनाकर जनताके समक्ष वास्तविक तत्त्वके स्वरूपको रखे।

छात्र जीवन को सफल बनाने के लिये ये बाते ध्यान देने योग्य है—

१ परोपकार के अन्तस्तल में यदि स्वोपकार निहित नहीं तब वह परोपकार निर्जीव है। विद्यार्थीका स्वोपकार उसका अध्ययन है अत सर्व प्रथम उसी की ओर ध्यान देना चाहिये। हमे प्रसन्नता इसी बात मे होगी कि विद्यार्थी बीच मे अपना पठन-पाठन न छोड़, जिस विषय को प्रारम्भ करे गम्भीरता के

साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन करें, पठित विषय पर अपना पूर्ण अधिकार रखनेका प्रयास करें।

२. शारीरिक संस्कारों से अपनी प्रवृत्ति को कलुषित न होने दें। ब्रह्मचर्य के संरक्षण का पूर्ण ध्यान रखें।

३ अन्य सभी कामों के पहले जितनी शिक्षा प्राप्त करना हो उसे पूर्ण करके ही दूसरे कार्य करने का विचार करें।

४ छात्र जीवन मे सदाचार पर पूर्ण ध्यान दें।

५ स्वप्न में भी दैन्य वृत्तिका समागम न होने दें।

६ अभिमान की मात्रा मर्यादातीत न हो परन्तु साथ ही साथ स्वाभिमान जैसा धन भी सुरक्षित रहे।

७ गुरु के प्रति भक्ति हो, अभीप्राय निर्मल हो।

८ मनोवृत्ति दूषक साहित्य और चित्रपट देखने से दूर रहें।

९ उत्तम पुरुषों के ही जीवन चरित अधिकांश पढ़ें। अधम पुरुषों के भी जीवन चरित पढ़े परन्तु उनके पढ़ने में विधि निषेध का ज्ञान अवश्य रखें।

१० विद्याध्ययन के काल में शक्ति और समयानुसार धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन अवश्य करें।

११ "सन्तोष सबसे बड़ा धन है, और "सादगी सबसे अच्छा जीवन है" इन बातों का सदा स्मरण रखें।
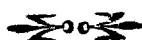
ब्रह्मचर्य

१ ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ-"आत्मा में रमण करना है।" परन्तु आत्मा में आत्मा का रमण तभी हो सकता है जबकि चित्तवृत्ति विषय वासनाओं से निर्लिप्त हो, विषयाशा से रहित होकर एकाग्र हो। इस अवस्था का प्रधान साधक वीर्य का संरक्षण है अतः वीर्यका संरक्षण ही ब्रह्मचर्य है।

२ आत्मशक्ति का नाम वीर्य है, इसे सत्व भी कहते हैं। जिस मनुष्य के शरीर में वीर्य शक्ति नहीं वह मनुष्य कहलाने योग्य नहीं बल्कि लोक में उसे नपुंसक कहा जाता है।

३ आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार शरीर में सप्तधातुएँ होती हैं—१ रस २ रक्त, ३ मांस, ४ मेदा, ५ हड्डी, ६ मज्जा और ७ वीर्य। इनका उत्पत्तिक्रम रस से रक्त, रक्त से मांस मांस से मेदा, मेदा से हड्डी, हड्डी से मज्जा और मज्जा से वीर्य बनता है। इस उत्पत्ति क्रमसे स्पष्ट है कि छठवीं मज्जा धातु से बनने वाली सातवीं शुद्ध धातु वीर्य है। अच्छा स्वस्थ्य मनुष्य जो आधा सेर भोजन प्रतिदिन अच्छी तरह हजम कर सकता है वही ८० दिन में ४० सेर याने एक मन अनाज खाने पर केवल एक तोला शुद्ध धातु वीर्य का सञ्चय कर सकता है! इस हिसाब से एक दिन का सञ्चय केवल १। सवारत्ती से कुछ कम ही पड़ता है। इसीलिये यह कहा जाता है कि हमारे शरीर

में वीर्य शक्ति ही सर्व श्रेष्ठ शक्ति है, वही हमारे शरीर का राजा है। जिस तरह राजा के बिना राज्य में नाना प्रकार के अन्याय मार्गों का प्रसार होने से राज्य निरर्थक हो जाता है उसी तरह इस शरीर में इस वीर्य शक्ति के बिना शरीर निस्तेज हो जाता है, नाना प्रकार के रोगों का आराम गृह बन जाता है। अत. इस अमूल्य शक्ति के सरक्षण की ओर जिनका ध्यान नहीं वे न तो लौकिक कार्य करने मे समर्थ हो सकते हैं और न पारमार्थिक कार्य करने मे समर्थ हो सकते हैं।

४. ब्रह्मचर्य सरक्षण के लिए न केवल विषय भोग का निरोध आवश्यक है अपि तु तद्विषयक वासनाओं और साधन सामग्री का निरोध भी आवश्यक है। १ अपने राग के विषय भूत स्त्री पुरुष का स्मरण करना, २ उनके गुणों की प्रशंसा करना, ३ साथ में खेलना, ४ विशेष अभिप्राय से देखना, ५ लुक छिपकर एकान्त मे वार्तालाप करना, ६ विषय सेवन का विचार और ७ तद्विषयक अध्यवसाय ब्रह्मचर्य के घातक होने से विषय सेवन के सदृश ही हैं। इसीलिये आचार्यों ने ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले को स्त्रियों के सम्पर्क से दूर रहने का आदेश दिया है। यहां तक कि स्त्री समागम को ही संसार-वृद्धि का मूल करण कहा है क्योंकि स्त्री-समागम होते ही पांचों इन्द्रियों के विषय स्वयमेव पुष्ट होने लगते हैं। प्रथम तो उसके रूप को निरंतर देखने की अभिलाषा बनी रहती है। वह निरंतर सुन्दर रूप वाली बनी रहे, इसके लिये अनेक प्रकार के उपटन, तेल आदि पदार्थों के संग्रह में व्यस्त रहता है। उसका शरीर पसेव आदि से दुर्गन्धित न हो जाय, अतः निरंतर चन्दन, तेल इत्र आदि बहुमूल्य वस्तुओं का संग्रह कर उस पुतली की सम्हाल में संलग्न रहता है। उसके केश निरंतर लंबायमान रहें अतः

उनके लिये नाना प्रकार के गुलाब, चमेली, केवडा आदि तेलों का संग्रह करता है तथा उसके सरस कोमल, मधुर शब्दों का श्रवण कर अपने को धन्य मानता है और उसके द्वारा संपन्न नाना प्रकार के रसास्वाद को लेता हुआ फूला नहीं समाता है। उसके कोमल अंगोंको स्पर्श कर आत्मीय ब्रह्मचर्य का और बाह्य मे शरीर-सौंदर्य का कारण वीर्य का पात होते हुए भी अपने को धन्य मानता है। इस प्रकार स्त्रीसमागम से ये मोही पंचेन्द्रियों के विषय मे मकडा के जाल की तरह फँस जाते है। इसीलिये ब्रह्मचर्य को असिधारा व्रत, महान धर्म और महान तप कहा है।

५ धर्म साधन का प्रधान साधन स्वस्थ्य शरीर कहा गया है इसलिये ही नहीं अपितु जीवन के संरक्षण और उसके आदर्श निर्माण के लिये भी जो १ शान्ति, २ कान्ति, ३ स्मृति, ४ ज्ञान ५ निरोगिता जैसे गुण आवश्यक है उनकी प्राप्ति के लिये ब्रह्मचर्य का पालन नितान्तावश्यक है।

६. यह कहते हुए लज्जा आती है, हृदय दुःख से द्रवीभूत हो जाता है कि जिस अद्भुत वीर्य शक्ति के द्वारा हमारे पूर्वजों ने लौकिक और पारमार्थिक कार्य कर संसार के सरक्षण का भार उठाया था आजकल उस अमूल्य शक्ति का बहुत ही निर्विचार के साथ ध्वस किया जा रहा है। आजसे १००० वर्ष पहिले इसकी रक्षा का बहुत ही सुगम उपाय था-ब्रह्मचर्य को पालन करते हुए बालक गण गुरुकुलों में वास कर विद्योपार्जन करते थे। आज की तरह उन दिनों चमक दमक प्रधान विद्यालय न थे और न आज जैसा यह वातावरण ही था। उन्नति का जहां तक प्रश्न है प्रगतिशीलता साधक है परन्तु वह प्रगतिशीलता खटकने वाली है जिससे रागकी वृद्धि और आत्माका

घात होता हो। माना कि आजकल के विद्यालयों में वैसे शिक्षक नहीं जिनके अवलोकन मात्रासे शान्ति की उद्भूति हो ! छात्रों पर वह पुत्र प्रेम नहीं जिसके कारण छात्रों में गुरु आदेश पर मिटने की भावना हो। और न छात्रों में वह गुरुभक्ति है जिसके नाम पर विद्यार्थी असभव को सभव कर दिखाते थे। इसका कारण यही था कि पहले के गुरु छात्रों को अपना पुत्र ही समझते थे अपने पुत्र के उज्वल भविष्य निर्माण के लिये जिन संस्कारों और जिस शिक्षा की आवश्यकता समझते थे वही अपने शिष्यों के लिये भी करते थे। परन्तु अब तो पांसे उलटे ही पड़ने लगे है ! अन्य वातोंको जाने दीजिये शिक्षा मे भी पक्षपात होने लगा ! गुरु जो अपने सुपुत्रों को अंग्रेजी पढ़ाना हितकर समझते है तब (दूसरों के लडकों) अपने शिष्यों को सस्कृत पढ़ाते हैं ! भले ही संस्कृत आत्मकल्याण और उभय लोक मे सुखकारी है परन्तु इस विषम वातावरण से उस आदर्श सस्कृत भाषा और उन अतीत के आदर्शो पर छात्रों की अश्रद्धा होती जाती है जिससे वे अपने को योग्य बना सकते हैं। आवश्यक यह है कि गुरु शिष्य पुनः अपने कर्तव्यों का पालन करें जिससे प्रगति शील युग मे उन आदर्शों की भी प्रगति हो विद्यालयों के विशाल प्राङ्गणों मे ब्रह्मचारी बालक खेलते कूदते नजर आवें और गुरु वर्ग उनके जीवन निर्माता और सच्चे शुभ चिन्तक बने।

७ ब्रह्मचर्य साधन के लिये व्यायाम द्वारा शरीर के प्रत्येक अङ्ग को पुष्ट और संगठित बनना चाहिये। सादा भोजन और व्यायाम से शरीर ऐसा पुष्ट होता है कि वृद्धावस्था तक सुदृढ़ बना रहता है। जो भोजनहम करते है उसे जठराग्नि पचाती है फिर उसका धातु उत्पत्ति क्रमानुसार रसादि परम्परा से वीर्य बनता है। इस तरह वीर्य और जठराग्नि में परस्पर सम्बन्ध

है—एक दूसरे के सहायक हैं । इन्हीं के आधीन शरीर की रक्षा है, इनकी स्वस्थ्यता मे शरीर की स्वस्थ्यता है । प्राचीन समय मे इसी अखण्ड ब्रह्मचर्य के बल से मनुष्य बद्धवीर्य उर्ध्वरेता कहे जाते थे ।

८. जिस शक्ति को छात्र वृन्द अहर्निश अध्ययन कार्य में लाते हैं वह मेधा शक्ति भी इसी शक्ति के प्रसाद से बलवती रहती है, इसीके बल से अभ्यास अच्छा होता है, इसी के बल से स्मरण शक्ति अद्भुत बनी रहती है । स्वामी अकलङ्कदेव, स्वामी विद्यानन्दि, महाकवि तुलसीदास भक्त सूरदास और पण्डित प्रवर तोडरमल की जो विलक्षण प्रतिभा थी वह इसी शक्ति का वरदान था ।

९ आजकल माता पिता का ध्यान सन्तान के सुसंस्कारों की रक्षा की ओर नही है । धनाढ्य से धनाढ्य भी व्यक्ति अपने बच्चों को जितना अन्य आभूषणों से सज्जित एव अन्य वस्तुओं से सम्पन्न देखने की इच्छा रखते हैं उतना सदाचारादि जैसे गुणोंसे विभूषित और शील जैसी सम्पत्ति से सम्पन्न देखने की इच्छा नहीं रखते । प्रत्युत उसके विरुद्ध ही शिक्षा दिलाते हैं जिसमे कि सुकुमार मति बालक को सुसंगति की अपेक्षा कुसङ्गति का प्रश्रय मिलता है फल स्वरूप वे दुराचरण के जाल में फस कर नाना प्रकार की कुत्सित चेष्टाओं द्वारा शरीर की संरक्षण शक्ति का ध्वस कर देते है । दुराचार से हमारा तात्पर्य केवल असदाचरण से नहीं है किन्तु १-आत्मा को विकृत करने वाले नाटकों का देखना, २-कुत्सित गाने सुनना, ३ शृङ्गार वर्धक उपन्यास पढ़ना, ४ बाल विवाह, (छोटे छोटे वर कन्या का विवाह) ५ वृद्ध विवाह और ७ अनमेल विवाह (वर

छोटा कन्या बड़ी, या कन्या छोटी वर बड़ा) जैसे सामाजिक और वैयक्तिक पतन के कारणों से भी है ।

मेरी समझ में इन घृणित दुराचारों को रोकने का सर्व श्रेष्ठ उपाय यही है कि माता पिता अपने बच्चों को सबसे पहिले सदाचार के सस्कार से ही विभूषित करने की प्रतिज्ञा करें। सदाचार एक ऐसा आभूषण है जो न कभी मैला हो सकता है न कभी खो सकता है, व्यक्ति के साथ छाया की तरह सदा साथ रहता है । बालक ही वे युवक होते हैं जो एक दिन पिता का भार ग्रहण कर कुटुम्ब मे धर्म परम्परा चलाते है, बालक ही वे नेता होते है जो समाज का नेतृत्व कर उसे नवीन जीवन और जागृति प्रदान करते हैं, यहां तक कि बालक ही वे महर्षि होते हैं जो जनता को कल्याण पथका प्रदर्शन कर शान्ति और सच्चा सुख प्राप्त कराने मे सहायक बनते हैं ।

१० गृहस्थों के सयम में सबसे पहिले इन्द्रिय संयम को कहा है । उसका कारण यही है कि ये इन्द्रियां इतनी प्रबल हैं कि वे आत्मा को हटात् विषय की ओर ले जाती है, मनुष्य के ज्ञानादि गुणों को तिरोहित कर देती हैं, स्वीय विषय के साधन निमित्त मन को सहकारी बनाती है, मन को स्वामी के बदले दास बना लेती हैं । इन्द्रियों की यह सबलता आत्म कल्याण में बाधक हैं अत. उनका निग्रह अत्यावश्यक है। उपाय यह है कि सर्व प्रथम इन्द्रियों की प्रवृत्ति ही उस ओर न होने दो परन्तु यदि जब कोई इन्द्रिय का समभिधान हो रहा है, कोई प्रतिबन्धक कारण विषय निवारक नही है, और आप उसके ग्रहण करने के लिये तत्पर हो गये है तो उसी समय आपका कार्य है कि इन्द्रिय को विषय से हटाओ उसे यह

निश्चय करा दो कि तेरी अपेक्षा मैं ही बल शाली हूँ, तुझे विषय ग्रहण न करने दूंगा। जहां दस पांच अवसरों पर आप ने इस तरह विजय पा ली अपने आप इन्द्रियां आपके मन के आधीन हो जावेंगी। जिस विषय सेवन करने से आपका उद्देश्य काम दूर करने का था वह दूर होकर शरीर रक्षा की ओर आपका ध्यान आकर्षित हो जायगा। उस समय आपकी यह दृढ़ भावना होगी कि मेरा स्वभाव तो ज्ञाता दृष्टा है, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यवाला है। केवल इन कर्मों ने इस प्रकार जकड रखा है कि मैं निज परणति को परित्याग कर इन विषयों द्वारा तृप्ति चाहता हूँ। यह विषय कदापि तृप्ति करने वाले नहीं। देखने मे तो किंपाक सदृश मनोहर प्रतीत होते हैं किन्तु परिपाक में अत्यन्त विरस और दुःख देने वाले हैं। मैं व्यर्थ ही इनके वश होकर नाना दुखो की खनि हो रहा हूँ। इस तरह की भावनाओं से जीवन मे एक नवीन स्फूर्ति और शुभ भावनाओं का सञ्चार होता है, विषयों की ओर से विरक्ति होकर सुपथ की ओर प्रवृत्ति होती है।

११ जिन उत्तम कुल शील धारक प्राणियों ने गृहस्थावस्था मे उदासीन वृत्ति अवलम्बन कर विषय सेवन किये वे ही महानु भाव उस उदासीनता के बल से इस परम पद के अधिकारी हुए। श्री भरत चक्रवर्ती को अन्तर्मुहूर्त मे ही अनन्त चतुष्टय लक्ष्मी ने सवरण किया वह महनीय पद प्राप्ति इसी भावना का फल है। ऐसे निर्मल पुरुष जो विषय को केवल रोगवत् जान उपचार से औषधिवत् सेवन करते हैं उन्हें यह विषयाशा नागिन कभी नही डॅस सकती।

१२ संसार में जो व्यक्ति काम जैसे शत्रुपर विजय पा लेते हैं वही शूर हैं। उन्हीं की शुभ भावनाओं के उदयाचल पर उस

दिव्य ज्योति तीर्थंकर सूर्य का उदय होता है जिसके उदय होते ही अनादिकालीन मिथ्यान्धकार ध्वंस हो जाता है।

१३. ब्रह्मचर्य एक ऐसा व्रत है जिसके पालने से सम्पूर्ण व्रतों का समावेश उसी में हो जाता है तथा सभी प्रकार के पापों का त्याग भी उसी व्रत के पालने से हो जाता है। विचार कर देखिये जब स्त्री सम्बन्धी राग घट जाता है तब अन्य परिग्रहोंसे सहज ही अनुराग घट जाता है क्योंकि वास्तव में स्त्री ही घर है, घास-फूस, मिट्टी चूना आदि का बना हुआ घर घर नहीं कहलाता। अतः इसके अनुराग घटाने से शरीर के शृंङ्गारादि अनुराग स्वयं घट जाते है। माता पिता आदि से स्नेह स्वयं छूट जाता है। द्रव्यादि की वह ममता भी स्वयमेव छूट जाती है जिसके कारण गृहबन्धन से छूटने में असमर्थ भी स्वयमेव विरक्त होकर दैगम्बरी दीक्षा का अवलम्बन कर मोक्षमार्ग का पथिक बन जाता है।

१४ ब्रह्मचर्य साधक व्यवस्था में मुख्यतया इन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिये—

१ प्रात ४ बजे उठकर धार्मिक स्तोत्रका पाठ और भगवन्नामस्मरण करने के अनन्तर ही अन्य पुस्तकों का अध्ययन पर्यटन या गृह कार्य किया जाय।

२ सूर्य निकलने के पहले ही शौचादि से निवृत्त होकर खुले मैदान में अपनी शारीरिक शक्ति और समयानुसार दंड, बैठक, आसन, प्राणायाम आदि आवश्यक व्यायाम करे।

३ व्यायाम के अनन्तर एक घण्टा विश्रान्ति के उपरान्त ऋतु के अनुसार ठंडे या गरम जल से अच्छी तरह स्नान करे। स्नान के अनन्तर एक घण्टा देव पूजा और शास्त्र स्वाध्याय आदि धार्मिक कार्य कर दस बजे के पहिले तक का जो समय शेष रहे उसे अध्ययन आदि कार्यों में लगावें।

४. दस बजे निर्द्वन्द्व होकर शान्त चित्त से भोजन करे। भोजन सादा और सात्विक हो। लाल मिर्च आदि उत्तेजक, रबड़ी मलाई आदि गरिष्ठ एवं अन्य किसी भी तरह के चटपटे पदार्थ न हों।

५. भोजन के बाद आधा घण्टे तक या तो खुली हवा मे पर्यटन करे या पत्रावलोकन आदि ऐसा मानसिक परिश्रम करे जिसका भार मस्तिष्क पर न पड़े। बाद मे अपने अध्ययनादि कार्य मे प्रवृत्त हों।

६ शायंकाल चार बजे अन्य कार्यो से स्वतन्त्र होकर शौचादि दैनिक क्रिया से निवृत्त होने के पश्चात् ऋतु के अनुसार पॉच या साढे पॉच बजे तक सूर्यास्त के पहिले पहिले भोजन करे।

७ भोजन के पश्चात् एक घण्टे खुलीहवा में पर्यटन करे तदनन्तर दस बजे तक अध्ययनादि कार्य करे।

८ दस बजे सोने के पूर्व ठण्डे जल से घुटनों तक पैर और ऋतु अनुकूल हो तो शिर भी धोकर स्तोत्र पाठ या भगवन्नास्मरण करके शयन करे।

९ सदा अपने कार्य से कार्य रखे व्यर्थ विवाद मे न पडे।

१० अपने समय का एक एक क्षण अमूल्य समझ उसका सदुपयोग करे।

११ मनोवृत्ति दूषक साहित्य, नाटक, सिनेमा आदि से दूर रहें।

१२ दूसरों की मॉ बहिनों को अपनी मॉ बहिन समझे।

१३. "सत्संगति और विनय जीवन की सफलता का अमोघ मन्त्र है" इसे कभी न भूलें।

१४ जिनका विद्यार्थी या उदासीन जीवन नहीं है अपितु गृहस्थ जीवन हैं वे भी उक्त साधक व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए पर्व के दिनों में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर अपने शरीर का संरक्षण करें।

१५ सबसे अच्छी रामबाण औषधि ब्रह्मचर्य है अतः उसके संरक्षण का सदा ध्यान रखे।
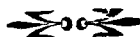
सत्सङ्गति (सत्समागम)

१ सत्सङ्गति का अर्थ यही है-"निजात्मा बाह्य पदार्थों से भिन्न भावना के अभ्यास से कैवल्य पद पाने का पात्र हो।"

२ जिस समागम से मोह उत्पन्न हो वह समागम अनर्थ की जड है।

३ गृहवास उतना बाधक नहीं जितना कायरों का समागम है।

४ आवश्यकता इस बात की है कि निरन्तर निष्कपट पुरुषों की सङ्गति करो। ऐसे समागम से अपने को रक्षित रखो जो स्वार्थ के प्रेमी हैं, कुपथगामी हैं।

५ प्रत्येक उदासीन व्यक्ति को सत्समागम मे रहना चाहिये। सत्समागम से यह अर्थ लेना चाहिये कि जो मनुष्य ससार से विरक्त हो शेष आयु मोक्षमार्ग मे बिताना चाहते हों, उन्हें चाहे ज्ञान अल्प भी हो पर भीतर से निष्कपट हों उन्हीं का समागम करे।

६ साधु समागम मोक्षमार्ग मे बाह्य निमित्त है।

७ वर्त्तमान मे निष्कपट समागम का मिलना परम दुर्लभ है। अतः सर्वोत्तम समागम तो अपनी रागादि परणति को घटाना ही है।

८ विकल्पों का अभाव कषाय के अभाव में, कषायों का अभाव तत्वज्ञान के सद्भाव में, और तत्त्वज्ञान का सद्भाव साधु समागम से होता है।

९ जिस तरह दीपक से दीपक जलाया जाता है उसी तरह महात्माओं से महात्मा बनते है। अतः महात्माओं के सम्पर्क (साधु समागम) से एक दिन स्वयं महात्मा हो जाओगे।

१० सत्संग का लाभ पुण्योदय से होता है, और पुण्योदय मन्द कषाय से होता है।

११ विचार परम्परा को उत्तम रखने का कारण अन्तःकरण की शुद्धि है, वह शुद्धि बिना विवेक के नही हो सकती, वह विवेक भेद विज्ञान के बिना नही हो सकता और वह भेदविज्ञान बिना सत्समागम के नही हो सकता।

विनय

१ विनय का अर्थ नम्रता या कोमलता है। कोमलता मे अनेक गुण वृद्धि पाते हैं। यदि कठोर जमीन में बीज डाला जाय तो व्यर्थ चला जायगा। पानी की बारिष मे जो जमीन कोमल हो जाती है उसी मे बीज जमता है। बच्चे को प्रारम्भ मे पढ़ाया जाता है—

"विद्या ददाति विनय विनयाद्याति पात्रताम।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्म तत सुखम॥"

"विद्या विनय को देती है विनय से पात्रता आती है, पात्रता से धन मिलता है, धन से धर्म और धर्म से सुख प्राप्त होता है।"

२ जिसने अपने हृदय मे विनय धारण नही किया वह धर्म का अधिकारी कैसे हो सकता है?

३ विनयी छात्र पर गुरु का इतना आकर्षण रहता है कि वह उसे एक साथ सब कुछ बतलाने को तैयार रहता है।

४ आज की बात क्या कहें? आज तो विनय रह ही नही गया। सभी अपने आप को बडे से बड़ा अनुभव करते हैं। मेरा मान नही चलाजाय इसकी फिकर मे पड़े हैं, पर इस तरह किसका मान रहा है? आप किसी को हाथ जोड़कर या

सिर झुकाकर उसका उपकार नहीं करते बल्कि अपने हृदय से मान रूपी शत्रु को हटाकर अपने आपका उपकार करते हैं। किसी ने किसी कि बात मान ली, उसे हाथ जोड़ लिये, सिर झुका दिया, इतने से ही वह प्रसन्न हो जाता है और कहता है कि इसने मान रख लिया। तुम्हारा मान क्या रख लिया; अपना अभिमान खो दिया, अपने हृदय में जो अहंकार था उसने उसे अपने शरीर की क्रिया से दूर कर दिया।

५ विनय के सामने सब सुख धूल हैं। इससे आत्मा का महान गुण जागृत होता है, विवेक शक्ति जागृत होती है। आज कल लोगों मे विनय की कमी है इसलिये हर एक बात में क्यों ? क्यों ? करने लगते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि उनमें श्रद्धा के न होने से विनय नहीं है अतः हर एक बात मे कुतर्क उठा करते हैं।

एक आदमी को "क्यों" का रोग हो गया, जिससे बेचारा बड़ा परेशान हुआ। पूछने पर किसीने उसे सलाह दी कि तू इसे किसी को बेच डाल भले ही सौ पचास रुपये लग जांय। बीमार आदमी इस विचार में पड़ा कि यह रोग किसे बेचा जाय। किसीने सलाह दी स्कूल के लड़के बड़े चालाक होते है अत ५०) देकर किसी लड़के को यह रोग दे दो। उसने ऐसा ही किया। एक लड़के ने ५०) लेकर उसका वह "क्यों" रोग ले, लिया सब लड़कों ने मिल कर ५०) को मिठाई खाई। जब लड़का मास्टर के पास पहुँचा, मास्टर ने कहा—"कल का पाठ सुनाओ।" लड़के ने कहा क्यों ? मास्टर ने कान पकड़ कर लड़के को स्कूल के बाहर निकाल दिया। लड़के ने सोचा कि यह क्यों रोग तो बड़ा बुरा है। वह उसको वापिस कर आया। उसने सोचा चलो अबकी बार यह अस्पताल के किसी मरीज को बेच दिया जाय तो अच्छा है

ये लोग तो पलंग पर पड़े पड़े आराम करते ही हैं। ऐसा ही किया, एक मरीज को वह रोग सौंप दिया। दूसरे दिन जब डाक्टर आये तब उन्होंने मरीज से पूछा—"तुम्हारा क्या हाल है?" मरीज ने उत्तर दिया "क्यों?" डाक्टर ने उसे अस्पताल से बाहर किया, रोगी की समझ में आ गया कि वास्तव में "क्यों" रोग तो एक खतरनाक रोग है वह भी वापिस कर आया। अबकी बार उसने सोचा अदालती आदमी बहुत टंच होते हैं, इसलिये उन्हीं को यह रोग दिया जाय, उसने ऐसा ही किया। परन्तु जब वह अदालती आदमी मजिस्ट्रेट के सामने गया, मजिस्ट्रेट ने कहा—"तुम्हारी नालिश का ठीक ठीक मतलब क्या है?" आदमी ने उत्तर दिया क्यों? मजिस्ट्रेट ने मुकदमा खारिज कर उसे अदालत से निकाल दिया।

इस उदाहरण से सिद्ध है कि कुतर्क से काम नहीं चलता। अतः आवश्यक है कि मनुष्य दूसरे के प्रति कुतर्क न करे, अपितु श्रद्धा रखे जिससे कि उसके हृदय में विनय जैसा गुण जागृत हो।

रामबाण औषधियाँ

१. सबसे उत्तम औषधि मन की शुद्धता है, दूसरी औषधि ब्रह्मचर्य की रक्षा है, तीसरी औषधि शुद्ध भोजन है।

२ यदि भवभ्रमण रोग से बचना चाहो तो सब औषधियों के विकल्प जाल को छोड़ ऐसी भावना भाओ कि यह पर्याय विजातीय दो द्रव्यों के सम्बन्ध से निष्पन्न हुई है फिर भी परिणमन दो द्रव्यों का पृथक-पृथक ही है। सुधाहरिद्रावत एक रग नही हो गया अत. जो भी परिणमन इन्द्रिय गोचर है वह पौद्गलिक ही है। इसमे सन्देह नहीं कि हम मोही जीव शरीर की व्याधि का आत्मा में अवबोध होने से उसे अपना मान लेते है, यही ममकार ससार का विधाता है।

३. कभी अपने आपको रोगी मत समझो। जो कुछ चारित्र-मोह से अनुमति क्रिया हो उसके कर्ता मत बनो। उसकी निन्दा करते हुए उसे मोह की महिमा जानकर नाश करने करने का सतत प्रयत्न करते रहो।

४ जन्म भर स्वाध्याय करनेवाला अपने को रोगी समझ सब की तरह विलापादिक करे यह शोभास्पद नहीं। होना यह चाहिये कि अपने को सनत्कुमार चक्रवर्ती की तरह दृढ़ बनाओ। "व्याधि का मन्दिर शरीर है न कि आत्मा" ऐसी श्रद्धा करते

हुए रागद्वेष त्यागरूप महामन्त्र का निरन्तर स्मरण करो यही सच्ची और अनुभूत रामबाण औषधि है।

५. वास्तव मे शारीरिक रोग दुःखदायी नही। हमारा शरीर के साथ जो ममत्वभाव है वही वेदना की मूल जड़ है इसके दूर करने के अनेक उपाय हैं पर दो उपाय अत्युत्तम हैं—

१—एकत्व भावना (जीव अकेला आया अकेला जयगा)

२—अन्यत्व भावना (अन्य पदार्थ मुझसे भिन्न हैं)

इनमे एक तो विधिरूप है और दूसरा निषेधरूप है। वास्तव मे विधि और निषेध का परिचय हो जाना ही सम्यक्-बोध है।

६ जिसको हमने पर्याय भर रोग जाना और जिसके लिये दुनियाँ के वैद्य और हकीमों को नब्ज दिखाया, उनके लिखे बने या पिसे पदार्थों का सेवन किया और कर रहे हैं, वह वास्तव रोग नहीं है। जो रोग है उसको न जाना और न जानने की चेष्टा की और न उस रोग के वैद्यों द्वारा निर्दिष्ट रामबाण औषधि का प्रयोग किया। उस रोग के मिट जाने से यह रोग सहज ही मिट जाता है वह रोग है राग और उसके सद्वैद्य हैं वीतराग जिन। उनकी बताई औषधि है १ समता, २ परपदार्थों से ममत्व का त्याग और ३ तत्वज्ञान। यदि इस त्रिफला को शान्तिरस के साथ सेवन कर कषाय जैसी कटु और मोह जैसी खट्टी वस्तुओं का परहेज किया जाय तो इससे बढ़कर रामबाण औषधि और कोई नही हो सकती।

७ राग रोग मिटाने की यही सच्ची रामबाण औषधि है कि—प्रत्येक विषय जो शान्ति के बाधक है उनका परित्याग करो, चित्त से उनका विकल्प मेटो, सब जीवों के साथ अन्त-

रङ्ग से मैत्री भाव करो और प्रत्येक प्राणी के साथ अपने आत्मा के सदृश व्यवहार करो।

८. आत्मा को असन्मार्ग से रक्षित रखना, यही संसार रोग दूर करने की रामबाण औषधि है।

९ परिग्रह ही सब पापों का कारण है, इसकी कृशता ही रागादिक के अभाव में रामबाण औषधि है।

१० सच्ची औषधि परमात्मा का स्मरण है इससे बड़ी कोई रामबाण औषधि नहीं।

रामायण से शिक्षा

रामायण से भारतीय नर नारियों को जो अपूर्व शिक्षा मिलती है वह इस प्रकार है—

१ प्रजापालक महाराज दशरथ से दृढ़प्रतिज्ञ बनो।

२ राजा जनक से सहृदय सम्बन्धी बनो।

३ गुरु वशिष्ठ से ज्ञानी और कर्तव्यनिष्ठ बनो।

४ राजरानी कौशल्या सी पतिव्रता, पति की आज्ञाकारिणी और कर्तव्यपरायणा बनो।

५ श्री रामचन्द्रजी के साथ अपने लाड़ले लाल लक्ष्मण को हँसते हँसते वन भेजने वाली उस आदर्श माता सुमित्रा की तरह सौतेली सन्तान को भी अपनी सन्तान समझो? उसके दुःख मे दुखी और सुख मे सुखी रहो।

६ दासी मन्थरा के भड़काने मे आकर राम जैसे पुत्र को वन भेजनेवाली कैकेयी की तरह दूसरो के कहने मे आकर घर का सत्यानाश मत करो।

७ सारथी सुमन्त जैसी शुभचिन्तकता और सहृदयता से स्वामी का कार्य करो।

८ जटायु पक्षी की तरह प्राणोंकी बाजी लगाकर भी मित्र का साथ दो।

९ श्रीराम की तरह पिताके आज्ञाकारी, राज्य के निर्लोभी,

प्रजा के परिपालक और प्राणों की बाजी लगाकर भी अपनी गृहिणी (धर्म पत्नी) के रक्षक बनो।

१० उर्मिलासी सुन्दरी का मोह छोड़कर श्री राम के साथ जङ्गल में नङ्गे पैर भटकने वाले, भाबज होनेपर भी सीता को माँ मानने वाले श्री लक्ष्मण की तरह बन्धुवत्सल और सदाचारी बनो।

११ माँ के षड्यन्त्र से अनायास प्राप्त होनेवाले राज्य को भी ठुकरा देनेवाले श्री भरत की तरह भाई के भक्त बनो।

१२ श्री शत्रुघ्न की तरह भाइयों के आज्ञाकारी रहो।

१३ सती सीतासी पतिव्रता, कर्तव्यपरायणा, पति पथानुगामिनी और सहनशीलता की मूर्त्ति बनो।

१४ चौदह वर्ष तक पतिवियोग सहनेवाली उर्मिला सी सच्ची त्यागमूर्ति बनो।

१५ माण्डवी और श्रुतकीर्ति जैसी सुयोग्य वधू बनो।

१६ लवकुश जैसे निर्भीक और तेजस्वी बनो।

१७ हनुमान जैसे स्वामिभक्त और साहसी बनो।

१८ मन्दोदरी जैसी पति की शुभचिन्तिका नारी की सम्मति की अवहेलना कर अपना सर्वस्व स्वाहा मत करो।

१९ माया से सुवर्ण का मृग रूप धारण कर रामको लुभाने वाले मरीचि की तरह दिखावटी वेष धारण कर दुनियां को मत ठगो।

२० रावण जैसे अन्यायी बनकर अपयश के भागी मत बनो।

२१ सर्वशक्तिमान लङ्केश्वर दशानन (रावण) भी धराशायी हो गया, मघनाथ जैसा बलिष्ठ योद्धा भी काल के गालमे चला गया, अतः दुरभिमान मत करो।

२२ परस्त्री की ओर आंख उठाने वाला सर्वश्रेष्ठ बलशाली रावण भी अपना सर्वस्व स्वाहा कर चुका अतः परस्त्री को ओर कुदृष्टि से मत देखो।

उक्त शिक्षाओं से स्पष्ट है कि रामायण न केवल श्रीराम का पावन चरित है अपितु कल्याणार्थियों को कल्याण का सरल मार्ग एवं उज्वल भविष्य निर्माणार्थियों को आदर्श सरल उपाय भी है।

रामराज्य में जो सुख समृद्धि और शान्ति थी वह ऐसी ही आदर्श शिक्षाओं पर चलने के कारण ही थी। इसलिये जो व्यक्ति रामराज्य का स्वप्न साकार करना चाहते हैं उन्हें आवश्यक है कि वे १–उक्त शिक्षाओं पर स्वयं चलें, २–अपने कुटुम्बीजन, मित्रों एवं ग्रामवासियों को उन शिक्षाओं पर चलने का प्रोत्साहन दें, और ३–उन्हें बता दें कि रामराज्य की स्थापना राम बनकर की जा सकती है, रावण बनकर नहीं।

संसार के कारण

संसार के कारण

१ यह भला और वह बुरा, यही वासना बन्ध की जान है। आज तक अन्य पदार्थों में ऐसी कल्पना करते करते संसार के ही पात्र रहे। बहुत प्रयास किया तो इन बाह्य वस्तुओं को छोड़ दिया किन्तु इस से तो कोई लाभ न निकला। निकले कहाँ से, वस्तु तो वस्तु में है पर में कहाँ से आवे? पर के त्याग से क्या? क्योंकि वह तो स्वयं पृथक् है। उसका चतुष्टय स्वयं पृथक् है केवल विभाव दशा में अपना चतुष्टय उसके साथ तद्रूप हो रहा है। तद्रूप अवस्था का त्याग ही शुद्ध स्वचतुष्टय का उत्पादक है अतः उसकी ओर दृष्टिपात करो और लौकिकचर्या को तिलाञ्जलि दो। आजन्म से यही आलाप रहा, अब एक बार निज आलाप की तान लगा कर तानसेन हो जाओ तो सब दुःखों की सत्ता का अभाव हो जायगा।

२ "पर पदार्थ हमारा उपकार और अपकार करता है" यह धारणा ही भवपद्धति का कारण है।

३. कर्तृत्वबुद्धि का त्याग ही संसार का नाश है जब कि अहंकारबुद्धि ही संसार की जननी है।

४ जब तक हम आत्मतत्त्व को नहीं जानते संसार से विरक्त नहीं हो सकते।

५. जहाँ तक बने पर पदार्थों में आत्मीय बुद्धि को त्याग देना यही उपाय ससार से मुक्त होने का है।

६ योग और कषाय ही संसार के जनक हैं। इन की निवृत्ति ही संसार से छूटने का उपाय है।

७ जगत एक जाल है इनमें अल्पसत्त्ववालों का फँसना कोई बड़ी बात नही।

८ इस आत्मा के अन्तरङ्ग मे अनेक प्रकार की कल्पनाएँ होती हैं और वे प्राय. संसार के कारण ही होती हैं।

९ विभावशक्ति द्वारा आत्मा में रागादि विभाव भाव होते हैं। यही ससार के मूल कारण हैं।

१०. संसार की जननी ममता है, इसे त्यागो।

११. हम लोग जो ससार मे अनेक यातनाओं के पात्र हुए उसका मूल कारण हमारी अज्ञानता है, बाह्य पदार्थों का अपराध नही और न मन वचन काय के व्यापारों का अपराध है। क्रोधादि कषायों की पीडा नहीं सही जाती इससे जीव उनका कार्य कर बैठता है। परन्तु यह विपरीत अभिप्राय ऐसा निकृष्ट परिणाम है कि अनात्मीय पदार्थों मे आत्मीयता का भाव कराने मे अपना विभव दिखाता है। यही संसार का मूल कारण है।

१२ संसार परिभ्रमण का मूल कारण जीव का वह अज्ञान ही है जिसके प्रभाव से अनन्त शक्तियो का पुञ्ज आत्मा भी एक श्वांस मात्र बराबर कर काल मे अठारह बार जन्म और मरण का पात्र होता है। उस अज्ञान के नाश का उपाय अपनी परणति को कलुषित न करना ही है।
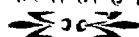
इन्द्रियों की दासता

१ इन्द्रियों का दास सबसे बड़ा दास है।

२ विषयों से परिपूर्ण दुनियां में जो अनाचार होते हैं उसका कारण स्पर्शन इन्द्रिय के दासत्व की प्रभुता ही है।

३ सब रोगोंका मूल कारण भोजन विषयक तीव्र गृध्नता है। यदि रसना इन्द्रिय पर विजय प्राप्त न हो सकी तो समझो किसी पर भी विजय प्राप्त नहीं कर सकते।

४. रसनेन्द्रिय विजयी ही संयमी होते हैं। अल्पकाल जिह्वा इन्द्रिय को वश करने से आजन्म नीरोगता और संयम की रक्षा होती है।

५ रसना इन्द्रिय पर नियन्त्रण रखना सबसे हितकर है जो वस्तु जिस समय पच सके वही उस काल में पथ्य है। औषधि का सेवन आलसी और धनिकों के लिये है।

६ संसार के कारण रागादिकों में भोजन की लिप्सा ही प्रधान कारण है। अत: जिसने रसनेन्द्रिय को नहीं जीता उसे उत्तम गति होना प्राय: दुर्लभ है।

७ जिह्वा लम्पटी आकण्ठ तृप्ति को करते हुए नाना रोग के पात्र तो होते ही हैं साथ ही लालच के वशीभूत होकर दुर्वासना के द्वारा अधोगति के पात्र होते हैं।

८ रसनेन्द्रिय की प्रबलता भव गर्त में पतन का कारण है।

९ जो घ्राणेन्द्रिय के दास हैं, लौकिक इत्र तेल फूल आदि की सुगन्ध के आदी है उन्हें आत्मोन्नति कुसुम की सुखावह गन्ध नहीं आ सकती।

१० जो पर का रूप देखने मे लगे रहेंगे उन्हें अपना रूप नहीं दिख सकता।

११ सुखी संसार का गाना सुनने की अपेक्षा दुखी दुनिया का रोना सुनना कही अच्छा है।

१२ स्पर्शन इन्द्रिय के क्षणिक सुख का लोलुपी हाथी कागज की हस्तिनी के लिए गड्ढे मे जा गिरता है। रसना इन्द्रिय की लोलुप मछली जरा से आटे के लोभ मे लोह की कँटीली वशी को चबाकर अपनी जीभ छिदाकर तड़प तड़प कर जान दे देती है। घ्राणेन्द्रिय का दास सुगन्धि का लालची भौंरा सूर्यास्त के समय कमल में बन्द होकर अपने प्राण गँवा बैठता है। चक्षुइन्द्रिय के विषय सुख का दास पतंगा बार बार जल जाने पर भी दीपक पर ही आकर जल मरता है। और कर्ण इन्द्रिय का दास मृग बहेलिये के हिंसक स्वभाव को जानते हुए भी उसकी वशी की मधुर तान मे आकर वाण से मारा जाता है। एक एक इन्द्रिय के विषय सुख के लोलुपियों की जब यह दशा होती है तब पाँचों ही इन्द्रियों के विषय सुख के लोलुपियों की क्या दशा होती होगी? यह प्रत्येक भुक्त भोगी या प्रत्यक्ष दर्शी ही जानता है।

१३ इन्द्रियों की दासता से जो मुक्त हुआ वही महान है।

कषाय

१ कषाय के वशीभूत होकर ही सभी उपद्रव होते है।

२ कषाय के आवेग मे बडे बड़े काम होते हैं। जो न हो जाय सो थोड़ा। इसके चक्कर मे बडे बड़े व्यक्ति आत्महित तक की अवहेलना कर देते हैं।

३ सबसे प्रबल माया कषाय है, इसको जीतना अति कठिन है।

४ कहीं भी जाओ कषाय की प्रचुरता नष्ट हुए बिना शान्ति नहीं मिल सकती।

५ कषाय अनादि काल से स्वाभाविक पद को बाधक है, क्योंकि इसके सद्भाव मे आत्मा कलुषित हो जाता है, जिससे वह मद्यपायी की तरह नाना प्रकार की विपरीत चेष्टाओं द्वारा अनन्त ससार की यातनाओं का ही भोक्ता बना रहता है। परन्तु जब कषायों की निर्मलता हो जाती है तब अनायास ही आत्मा अपने स्वभाविक पद का स्वामी हो जाता है।

६ चञ्चलता का अन्तरङ्ग कारण कषाय है।

७ "संसार असार है, कोई किसी का नहीं" यह तो साधारण जीवों के लिये उपदेश है किन्तु जिनकी बुद्धि निर्मल है और जो भावज्ञानी हैं उन्हे तो प्रवचनसार का चारित्र-अधि-

कार पढ़कर "आतम के अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय" इस भावना को ही दृढ़ करना चाहिए।

८. अनेक यत्न करने पर भी मन की चञ्चलता का निग्रह नहीं होता। आभ्यान्तर कषाय का जाना कितना विषम है! बाह्य कारणों के अभाव होने पर भी उसका अभाव होना अति दुष्कर है।

९. विकल्पों का अभाव कषाय के अभाव में ही होता है।

१०. बन्ध का कारण कषाय वासना है, विकल्प नहीं।

११ मन की चञ्चलता में मुख्य कारण कषायों की तीव्रता है और स्थिरता में कषाय की कृशता है। इसलिये काय की कृशता को गौण कर कषाय की कृशता पर ध्यान दो।

१२ जिस त्याग में कषाय है वह शान्ति का मार्ग नहीं।

१३ जब तक कषायो की वासना का निरोध न हो तब तक वचनयोग और मनोयोग का निरोध होना असम्भव है।

१४. शान्ति न आने का कारण कषाय का सद्भाव है और शान्ति आने का कारण कषाय का अभाव है। उपयोग न शान्ति का कारण है और न अशान्ति का ही।

१५. कषाय कलुषता की कालिमा से जिनका आत्मा मलिन हो रहा है भला उनके ऊपर धर्म का रंग कैसे चढ़ सकता है?

१६. कषाय के अस्तित्व में चाहे निर्जन बन में रहो चाहे पेरिस जैसे शहर मे रहो सर्वत्र ही आपत्ति है। यही कारण है कि मोही दिगम्बर भी मोक्षमार्ग से पराङ्मुख है और निर्मोही गृहस्थ मोक्ष मार्ग के सन्मुख है।

१७ जिस तरह पानी विलोड़ने से मक्खन की उपलब्धि

नहीं होती उसी तरह मन्द कषायों के विकल्पों से कषायाग्नि की शान्ति नहीं होती। उपेक्षामृत से ही कषायाग्नि का आताप शान्त होता है।

१८. मोक्ष मार्ग का लाभ उसी आत्मा को होता है जो कषायों की दुर्बलता से परे रहता है।

१९. मन वचन काय का व्यापार व्यग्रता का उत्पादक नहीं, व्यग्रता की उत्पादक तो कषाय ज्वाला है।

२०. जिस वस्त्र पर नीला रंग चढ़ चुका है उस पर कुमकुम का रंग नहीं चढ़ सकता। इसी तरह जब कषायों के द्वारा चित्त रंजित हो चुका है तब शुद्ध चिद्रूप का अनुभव तो दूर रहा; उसका स्पर्श होना भी दुर्लभ है।

२१. कषाय का उदय प्राणीमात्र को प्ररता है! जब तक वह शान्त न हो केवल उपाय जानने से मोक्षमार्ग नहीं हो सकता अपितु उसके अनुसार प्रवृत्ति करने से होता है।

२२. कषाय दूर करने के लिये जन संसर्ग, विषयों की प्रचुरता, और विशेषतया जीभ की लोलुपता का त्याग आवश्यक है।

२३. जिसने कषायों पर विजय पाली, या विजय पाने के सन्मुख है, वही धन्य है और वही सच्चा सन्मार्गगामी है।

लोक प्रतिष्ठा

१. संसार मे प्रतिष्ठा कोई वस्तु नही, इसकी इच्छा ही मिथ्या है। जो मनुष्य ससार बन्धन को छेदना चाहते हैं वे लोकप्रतिष्ठा को कोई वस्तु ही नहीं समझते।

२. केवल लोकप्रतिष्ठा के लिये जो कार्य किया जाता है वह अपयश का कारण और परिणाम मे भयङ्कर होता है।

३. संसार मे जो मनुष्य प्रतिष्ठा का लिप्सु होता है वह कदापि आत्म कार्य मे सफल नहीं होता। क्योंकि जो आत्मा पर पदार्थो से सम्बन्ध रखता है वह नियम से आत्मीय उद्देश्य से च्युत हो जाता है।

४. लोकप्रतिष्ठा की लिप्सा ने इस आत्मा को इतना मलिन कर रक्खा है कि वह आत्म गौरव पाने की चेष्टा ही नही कर पाता।

५ लोकप्रतिष्ठा का लोभी आत्मप्रतिष्ठा का अधिकारी नहीं। लोक मे प्रतिष्ठा उसी की होती है जिसने अपने पन को भुला दिया।

६. लोकप्रतिष्ठा की इच्छा करना अवनति के पथपर जाने की चेष्टा है।

७. ससार मे वही मनुष्य बड़े बन सके जिन्होंने लोक-प्रतिष्ठा की इच्छा न कर जन हित के बड़े से बड़े कार्यों को अपना कर्तव्य समझ कर किया।

आत्म-प्रशंसा

१. जब तक हमारी यह भावना है कि लोग हमें उत्तम कहें और हमें अपनी प्रशंसा सुहावे तब तक हमसे मोक्षमार्ग अति दूर है।

२. जो आत्म-प्रशंसा को सुन कर सुखी और निन्दा को सुन कर दुखी होता है उसको संसार सागर बहुत दुस्तर है। जो आत्म-प्रशंसा को सुनकर सुखी और निन्दा को सुनकर दुखी नहीं होता वह आत्म गुण के सन्मुख है। जो आत्म-प्रशंसा सुन कर प्रतिवाद कर देता है वह आत्मगुण का पात्र है।

३ जो अपनी प्रशस्ति चाहता है वह मोक्षमार्ग में कण्टक बिछाता है।

४. आत्म-प्रशसा आत्मा को मान कषाय की उत्पत्ति भूमि बनाती है।

५. आत्मश्लाघा में प्रसन्न होना संसारी जीवों की चेष्टा है। जो मुमुक्षु हैं वे इन विजतीया भावों से अपनी आत्मा की रक्षा करते है।

६. आत्म-प्रशंसा सुनकर जो प्रसन्नता होती है, मत समझो कि तुम उससे उन्नत हो सकोगे। उन्नत होने के लिये आत्म-प्रशंसा की आवश्यकता नहीं आवश्यकता सद्गुणों के विकाश की है।

मोह

१. ससार के मूल हेतु हम स्वयं है। इसी प्रकार मोक्ष के भी कारण हम ही है। इसके अतिरिक्त कल्पना मोहज भावों की महिमा है। मोह को नष्ट करना ससार के बन्धन से मुक्त होना है।

२. जब तक मोह का उदय रहेगा मुक्ति लक्ष्मी का साम्राज्य मिलना असम्भव है।

३. मोह की कथा अवाच्य और शक्ति अजेय है।

४ मोह को जीतना चाहो तो परपदार्थ के समागम से बहिर्मुख रहो।

५ हम चाहते हैं कि आत्मा सकटों से बचे परन्तु संकटों से बचने का जो अभ्रान्त मार्ग है उससे हम दूर भागते है। कोई मनुष्य पूर्व के तीर्थ दर्शन की अभिलाषा करे और मार्ग पकडे पश्चिम का तब क्या वह इच्छित स्थान पर पहुँच सकता है? कदापि नहीं। यही दशा हमारी है। केवल सतोष कर लेना मिथ्यामार्ग है।

६. जिस महानुभाव ने रागादिकों को जीत लिया वही मनुष्य है। यों तो अनेक जन्मते और मरते हैं उनकी गणना मनुष्यों मे करना व्यर्थ है।

७ आत्मा चिदानन्द है उसके शत्रु मोहादि भाव हैं।

८. मोह की कृशता होने पर ही आनन्द का विकास होता है। उसके होने में हम स्वयं उपादान हैं निमित्त तो निमित्त ही हैं।

९. जिस काल मे हमारी आत्मा रागादिरूप न परिणमे वही काल आत्मा के उत्कर्ष का है। उचित मार्ग यही है कि हम पुरुषार्थ कर रागादि न होने दें।

१०. जिस तरफ दृष्टि डाले उसी ओर उपद्रव ही उपद्रव दृष्टि में आते है, क्योंकि दृष्टि में मोह है। कामला रोगवाले को जहाँ भी दृष्टि डाले पीला ही दिखाई देता है।

११. जो सिद्धान्तज्ञान आत्मा और पर के कल्याण का साधक था आज उसे लोगों ने आजीविका का साधन बना रखा है! जिस सिद्धान्त के ज्ञान से हम कर्मकलङ्क को प्रक्षालन करने के अधिकारी थे आज उसके द्वारा धनिकवर्ग का स्तवन किया जाता है! यह सिद्धान्त का दोष नहीं; हमारे मोह की बलवत्ता है।

१२ आनन्द के बाधक यह सब ठाठ है परन्तु हम मोही जीव इन्हे साधक समझ रहे हैं।

१३ सभी वेदनाओं का मूल कारण मोह ही है। जब तक यह प्राचीन रोग आत्मा के साथ रहेगा भीषण से भीषण दुःखों का सामना करना पड़ेगा।

१४. जब तक मोह नहीं छूटा तब तक अशान्ति है। यदि वह छूट जावे तो आज शान्ति मिल जाय।

१५. केवल चित्त को रोकना उपयोगी नहीं, मन आत्मा के क्लेश का जनक नहीं, क्लेश का जनक मोहजन्य रागादि हैं। अतः इन्हीं को दूर करने की चेष्टा ही सुखद है।

१६. संसार की भयङ्कर दशा यूरोपीय युद्ध से प्रत्यक्ष हो गई फिर भी केवल मोह की प्रबलता है कि प्राणी आत्महित में नहीं लगता।

१७. जो मोही जीव हैं वे निमित्तों की मुख्यता से ही मोक्ष-मार्ग के पथिक बनते हैं।

१८. निश्चय कर मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञानदर्शनात्मक हूँ, इस संसार मे अन्य परमाणुमात्र भी मेरा नहीं परन्तु मोह! तेरी महिमा अचिन्त्य है, अपार है जो संसारमात्र को अपना बनाना चाहता है। नारकी की तरह मिलने को तो कण भी नहीं परन्तु इच्छा संसार भर के अनाज खाने की है।

१६. जिसका मोह नष्ट हो जाता है उसके ज्ञेयज्ञायकभाव का विवेक अनायास ही हो जाता है।

२०. विकल्प का कारण मोह है। जब तक मोह का अंश है तब तक यथाख्यात चरित्र का लाभ नहीं, जब तक यथाख्यात चरित्र नहीं जब तक आत्मा में स्थिरता नहीं, जब तक आत्मा में स्थिरता नहीं तब तक निराकुलता नहीं, जब तक निराकुलता नहीं तब तक स्वात्मानुभूति नहीं और जब तक स्वात्मानुभूति नहीं तब तक शान्ति और सुख नहीं।

२१ दर्शनमोह के नाश होने पर चारित्रमोह की दशा स्वामोहीन कुत्ते की तरह हो जाती है—भौंकता है परन्तु काटने में समर्थ नहीं।

२२. संसार दुःखमय है इससे उद्धार का उपाय मोह की कृशता है उस पर हमारी दृष्टि नहीं। दृष्टि हो कैसे, हम निरन्तर परपदार्थों मे रत हैं अतः तत्त्वज्ञान भी कुछ उपयोगी नहीं।

२३. यह अच्छा है वह जघन्य है, अमुक स्थान उपयोगी

है अमुक अनुपयोगी है, कुटुम्ब बाधक है साधुवर्ग साधक है यह सब मोहोदय की कल्लोलमाला है।

२४. मोह का प्रकोप है जो विश्व अशान्तिमय हो रहा है। जो व्यक्ति अपने स्वरूप की ओर लक्ष्य रखते हैं और अपने उपयोग को रागद्वेष की कलुषता से रक्षित रखते हैं वे इस अशान्ति से ग्रसित नहीं होते।

२५. मोह के सद्भाव में निर्ग्रन्थों को भी आकुलता होती है देशव्रती और अव्रती की तो कथा ही क्या है।

२६. मोहकर्म का निःशेष अभाव हुए बिना विकल्पों की निवृत्ति नहीं होती, अतः विकल्पों के होने का खेद मत करो।

२७ परिग्रह से आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं, फिर भी मोह नाना कल्पना कर किसी न किसी को अपना मान लेता है। हमने ऐसी प्रकृति अनादि से बना रक्खी है कि विना दूसरों के रहने मे कष्ट होता है। कहने को तो सभी कहते हैं "हम न किसी के न कोई हमारा" परन्तु कर्त्तव्य मे एकांश भी नहीं। यही अविवेक ससारका ब्रह्मा है और कोई व्यक्ति ब्रह्मा नहीं।

२८. हायरे मोह ! तेरे सद्भाव में ही तो यह उपासना है— "दासोऽहं" और तेरे ही असद्भाव में "सोऽहं" कितना अन्तर है। जिसमें ऐसी ऐसी विरोधी भावनाएं हों वह वस्तु कदापि ग्राह्य नहीं। अतः अब इसके जाल से बचो। उपाय यह है कि जो अधीरता इसके उदय में होती है पहिले उसे श्रद्धा के बल से हटाओ और निरन्तर अपनी शक्ति की भावना लाओ। एक दिन वह आयगा जब "दासोऽहं" और "सोऽहं" सभी विकल्प मिट जावेंगे। यहाँ तक कि "मैं ज्ञाता दृष्टा हूँ, अरहन्त सिद्ध परमात्मा हूँ, ज्ञायक स्वरूप आत्मा हूँ" आदि विकल्पों को भी अवकाश न मिलेगा।

२९. संसार में सबसे बड़ा बन्धन मोह है।

रागद्वेष

१. तिलों (तिल्ली) मे जबतक स्नेह (तैल) रहता है तब तक वह बार बार यन्त्र (कोल्हू) मे पेले जाते है परन्तु स्नेह शून्य खल (खली) को यन्त्र की यन्त्रणा नही सहनी पड़ती। उसी तरह जब तक आत्मा मे स्नेह (राग) रहता है तबतक ससार यन्त्र की यातनाओं को सहना पडता है परन्तु जब यह आत्मा स्नेह शून्य (राग रहित) हो जाता है, तब वह संसार यातनाओं से मुक्त हो जाता है।

२. रागादिकों के होने पर जो आकुलित हो जाता है और उनके उपशम के लिये कभी स्तोत्र पाठ, कभी चरणानुयोग द्वारा प्रतिपाद्य उपबास व्रत, कभी अध्यात्मशास्त्रप्रतिपाद्य वस्तु का परिचय, कभी साधुसमागम, कभी तीर्थयात्रा आदि सहस्रों उपाय कर उन्हें शान्त करने की चेष्टा करता है वह कभी भी आकुलता के घेरे से बाहर नहीं होने पाता।

३. वही जीव रागादिकों के रण में विजय पा सकेगा जो इनके होने पर साम्यभाव का अवलम्बन करेगा।

४. संसार का मूल कारण रागद्वेष है। इस पर जिसने विजय प्राप्त कर ली उसके लिये शेष क्या रह गया?

५ योगशक्ति उतनी घातक नहीं, वह केवल परिस्पन्द करती है। यदि रागादि कलुषता चली जाय तब वह उपद्रव नहीं

कर सकती और न स्थिति और अनुभागवाले बन्ध को ही कर सकती है।

६. जिसका मोह दूर हो गया है वह जीव सम्यक् स्वरूप को प्राप्त करता हुआ यदि रागद्वेष को त्याग देता है तो वह शुद्ध आत्मतत्त्व को प्राप्त कर लेता है अन्य कोई उपाय आत्मतत्त्व की प्राप्ति में साधक नहीं।

७. वास्तव आनन्द तो तब होगा जब ये रागादि शत्रु दूर हो जाएँगे। इनके सद्भाव में आनन्द नहीं ?

८. आज तक हमने धर्मसाधन बहुत किया परन्तु उसका प्रयोजन जो रागादिनिवृत्ति है उस पर दृष्टि नहीं दी फल यह हुआ कि टस से मस नहीं हुए।

९. सब उपद्रवों की जड़ रागादिक भाव हैं। जिसने इन पर विजय पा ली वही भगवान बन गया।

१०. मोह की दुर्बलता भोजन की न्यूनता से नहीं होगी किन्तु रागादि के त्यागने से होगी।

११. घर हो या वन, परिणाम हर जगह निर्मल रक्खे जा सकते हैं।

१२. "घर रहने में रागादिकों की वृद्धि होती है" इस भूत को हृदय से निकाल दो। जबतक इसको नहीं निकालोगे कभी भी रागादिक से निर्मुक्त न होगे।

१३. जहाँ राग है वहाँ रोग है।

१४. बीज में फल देने की शक्ति है परन्तु उसे बोया न जावे तब उसकी सन्तति ही न रहेगी। इसी प्रकार रागद्वेष में संसार-फल देनेकी सामर्थ्य है परन्तु यदि उनसे मनफेर लिया जावे तब फिर उनमें संसार फल जनने की सामर्थ्य ही नहीं रह सकती।

१५ ससारजाल मे फँसानेवाला कौन है ? जरा अन्तर्दृष्टि से परामर्श करो। जाल ही चिड़िया को फँसाता है ऐसी भ्रान्ति छोड़ो, बहेलिया फँसाता है यह भ्रम भी त्यागो, जिह्वेन्द्रिय फँसाती है यह अज्ञानता भी त्यागो, केवल चुँगने की अभिलाषा ही फँसाने मे बीजभूत है। इसके न होने पर वे सब व्यर्थ हैं। इसी तरह इस दुःखमय ससार के जाल में फँसाने का कारण न तो यह बाह्य सामग्री है, न मन वचन और काय का व्यापार ही है, न द्रव्यकर्मसमूह है, केवल स्वकीय आत्मा से उत्पन्न रागादि-परिणति ही सेनापति का कार्य कर रही है। अतः इसी का निपात करो। अनायास ही इस ससारजाल के बन्धन से मुक्त होने का उपाय पा जाओगे।

१६ आज कल लोगों ने धर्मात्मा बनने के बहुत सीधे और सरल उपाय निकाल लिये हैं। थोड़ा स्वाध्याय कर लिया, आसन जमाकर आँख मीचकर एक घण्टा माला फेरने की प्रथा निभा दी, दस व्यक्तियों के समुदाय में—"ससार असार है" कथा कह डाली, न्याय मार्ग को शब्दों से पुष्टि कर दी, बहुत हुआ तो पर्व के दिन व्रत उववास कर लिया, और आगे बढ़े तो किसी सस्था को कुछ दान दे दिया, और भी विशेष काम किया तो किसी त्यागी महात्मा को भोजन करा दिया, बस धर्मात्मा बन गये ! परन्तु यह सब ऊपरी बाते हैं। आत्मा के प्रदेशों में तादात्म्य से बैठा हुआ रागादि भाव जब-तक नहीं गया तब तक यह आचरण दम्भ है।

१७. "रागादि भावों का अभाव कैसे हो" यह एक समस्या है। उसके सुलझाने के मुख्य उपाय ये हैं—

१. शान्ति बाधक विषयों का परित्याग करो।

२. चित्त से विषयों की विकल्प सन्तति को दूर करो।

३. सब जीवों से अन्तरंग से मैत्रीभाव करो।

४. प्रत्येक प्राणी के साथ आत्मीयता को छोड़ो परन्तु आत्मसदृश लोकप्रिय व्यवहार करो।

५. केवल वचनों के आय-व्यय से तुष्ट और रुष्ट न होओ अपि तु अपना शुद्धात्मपरिणति की गति को सम्यक् जानकर ही व्यवहार करो।

६. "व्यर्थ पर्याय चली गई, क्या करें, कहाँ जावें" इस आर्तध्यान को छोड़ो।

७. "हम आत्मा हैं, हम में जो दोष आ गये हैं वे हमारी भूल से आ गये हैं, अतः हम ही उनको दूर करने में समर्थ हैं" ऐसा विचार रखो और उस विचार को क्रमशः यथाशक्ति सक्रिय रूप दो, एक दिन आत्मा से परमात्मा बन जाओगे, नर से नारायण हो जाओगे।

८. जिन कारणों को पाकर रागद्वेष उत्पन्न होता है उन्हें पृथक् करो।

९. उन महापुरुषों का समागम करो जिनका रागद्वेष कम हो गया है।

१०. उन महापुरुषों का जीवन-चरित्र पढ़ो जिन्होंने इसका नाश कर आत्मा की निर्वाण अवस्था प्राप्त कर ली है।

११. निरन्तर रागद्वेष की परणति दूर करने में प्रयत्नशील रहो।

१२. रागद्वेष पोषक जो आगम है उसे अनात्मीय जान उसका अध्ययन करने की इच्छा छोड़ो।

लोभ लालच

१. छोटा या बड़ा, धनी या निर्धन, त्यागी या गृहस्थ किसी को भी लालची बनाना महापाप है।

२. पाप का पिता, माया का पति, वञ्चकता का भाई, और दुर्वासना का पुत्र एकमात्र लालच ही है।

३. लोभ की अपेक्षा पाप सूक्ष्म है, यही सबका जनक है।

४ लोभ के वशीभूत हो अच्छे अच्छे विद्वान् ठगाये जाते हैं, मूर्खों का ठगाया जाना तो कोई बड़ी बात नही।

५ लोभी त्यागी से निर्लोभ गृहस्थ अच्छा है।

६. लोभ से मनुष्य नीच वृत्ति हो जाता है। लोभ ही पाप की जड़ है। लोभ के वशीभूत होकर यह जीव नाना प्रकार के अनर्थों को उत्पन्न करता है। उच्च वंश का जन्मा भी लोभी मनुष्य नीच की सेवा में तत्पर हो जाता है, अपनी पवित्र भावनाओं को त्याग देता है।

७. लोभ कषाय के सद्भाव में लोभी का धन किसी उपयोग में नही आता। लोभी अथक परिश्रम कर धन जोड़ते जोड़ते अपयश की मौत मरता है, परन्तु उसका धन मरण के बाद या तो कुटुम्बियों को मिलता है या राज्य मे चला जाता है! स्वय उसे बदनामी और पाप के सिवा कोई भी सुख उस धन से नहीं मिलता।

परिग्रह

१. ससार में परिग्रह ही पॉच पापों के उत्पन्न होने में निमित्त होता है। जहॉ परिग्रह है वहॉ राग है, जहां राग है वहीं आत्मा के आकुलता रूप दु.ख है वहीं सुख गुण का घात है, और सुखगुण के घात का नाम ही हिंसा है।

२ संसार में जितने पाप हैं उनकी जड़ परिग्रह है। आज जो भारत में बहुसख्यक मनुष्यों का घात हो गया है तथा हो रहा है उसका मूल कारण परिग्रह ही है। यदि हम इससे ममत्व घटा देवे तो अगणित जीवों का घा१ स्वयमेव न होगा। इस अपरिग्रह के पालने से हम हिंसा पाप से मुक्त हो सकते हैं, और अहिसक बन सकते हैं।

३ परिग्रह के त्यागे बिना अहिसा-तत्त्व का पालन करना असम्भव है। भारतवर्ष मे जो यागादिक से हिंसा का प्रचार हो गया था, उसका कारण यही प्रलोभन तो है कि इस याग से हमको स्वर्ग मिल जावेगा, पानी बरस जावेगा, अन्नादिक उत्पन्न होंगे, देवता प्रसन्न होंगे। यह सर्व क्या था ? परिग्रह ही तो था। यदि परिग्रह की चाह न होती तो निरपराध जन्तुओं को कौन मारता ?

४. आज यदि इस परिग्रह में मनुष्य आसक्त न होते तब

यह 'समाजवाद' या 'कम्यूनिस्टवाद' क्यों होते ? आज यदि परिग्रह के धनी न होते तब ये हड़ताले क्यों होतीं ? यदि परिग्रह पिशाच न होता.तब जमींदारी प्रथा, राजसत्ता का विध्वंस करने का अवसर न आता ? यदि यह परिग्रह-पिशाच न होता तब कॉग्रे स जैसी स्वराज्य दिलानेवाली संस्था विरोधियों द्वारा निन्दित न होती और वे स्वय इनके स्थान मे अधिकारी बनने की चेष्टा न करते ? आज यह परिग्रह-पिशाच न होता तो हम उच्च हैं, आप नीच हैं, यह भेद न होता। यह पिशाच तो यहा तक अपना प्रभाव प्राणियो पर जमाये हुए है जिससे सम्प्रदायवादियों ने धर्म तक को निजी धन मान लिया है। और धर्म की सीमा बाँध दी है। तत्त्वदृष्टि से धर्म 'तो आत्मा की परिणति विशेष का नाम है,' उसे हमारा धर्म है यह कहना क्या न्याय है ? जो धर्म चतुर्गति के प्राणियों में विकसित होता है उसे इने-गिने मनुष्यों मे मानना क्या न्याय है ? परिग्रह-पिशाच की ही यह महिमा है जो इस कुए का जल तीन वर्णों के लिए है, इसमे यदि शूद्रों के घडे पड़ गये तब अपेय हो गया ! जब कि टट्टी में से होकर नल आ जाने से भी जल पेय बना रहता है ! अस्तु, इस परिग्रह पाप से ही संसार के सब पाप होते है। श्री वीर प्रभु ने तिल-तुषमात्र परिग्रह न रखके पूर्ण अहिंसा व्रत की रक्षा कर'प्राणियों को बता दिया कि यदि कल्याण करने की अभिलाषा है तब दैगम्बरपद को अगीकार करो। यही उपाय ससार बन्धन से छूटने का है।

५. परिग्रह अनर्थों का प्रधान उत्पादक है यह किसी से छिपा नही, स्वयं अनुभूत है। उदाहरण की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता उससे विरक्त होने की है।

६ आवश्यकताएँ तो इतनी हैं कि संसार के सब पदार्थ

भी मिल जावें तो भी उनकी पूर्ति नहीं हो सकती। अतः किसी की आवश्यकता न हो यही आवश्यकता है।

७. संसार का प्रत्येक प्राणी परिग्रह के पञ्जे में है। केवल सतोष कर लेने से कुछ हाथ नहीं आता। पानी बिलोड़ने से घी की आशा तो असम्भव ही है छाँछ भी नहीं मिल सकता। जल व्यर्थ जाता है और पोने के योग्य भी नहीं रह जाता।

८. परिग्रह की लिप्सा मे आज संसार की जो दशा हो रही है वह किसी से अज्ञात नहीं। बड़े-बड़े प्रभावशाली तो उसके चक्कर में ऐसे फँसे कि गरीब दीन हीन प्रजा का नाश कराकर भी अपनी टेक रखना चाहते हैं।

९ वर्तमान में लोग आडम्बरप्रिय हैं इसी से वस्तुतत्त्व से कोसों दूर हैं।

१० व्यापार करने से आत्मा पतित नहीं होता, पतित होने का कारण परिग्रह में अति ममता ही है।

११. पट् खण्ड पृथ्वी का स्वामित्व भी ममता की कृशता मे दुःखद नहीं।

१२. ममता की प्रबलता में मनुष्य अपरिग्रही होकर भी जन्म-जन्मान्तर में दुःख के पात्र होते हैं।

१३. जो कहता है "हमने परिग्रह छोड़ा" वह अभी सुमार्ग पर नहीं आया। रागभाव छोड़ने से पर पदार्थ स्वयमेव छूट जाते हैं। अर्थात् लोभकषाय के छूटते ही धनादिक स्वयमेव छूट जाते हैं।

१४. बाह्य पदार्थ मूर्च्छा में निमित्त होते हैं। वह मूर्च्छा दो प्रकार की है—शुभोपयोगिनी और अशुभोपयोगिनी। इनके

निमित्त भी दो प्रकार के हैं—भगवद्भक्ति आदि जो धर्म के अङ्ग है इनके अर्हतादि निमित्त हैं और विषय कषाय जो पाप के अङ्ग हैं इनके पुत्रकलत्रादि निमित्त हैं। इन बाह्य पदार्थों पर ही अवलम्बित रहना श्रेयस्कर नही।

१५. मेरा तो शास्त्र स्वाध्याय और अनुभव से यह विश्वास हो गया है कि संसार मे अनर्थों और घोर अत्याचारों की जड़ परिग्रह ही है। जहाँ यह इकट्ठा हुआ वही झगड़ा होता है। जिन मठों में द्रव्य है वहाँ सब प्रकार का कलह है।

१६. जहाँ परिग्रह न हो वहाँ आनन्द से धर्मसाधन की सुव्यवस्था है। इसकी बदौलत ही आज भगवान का 'खजाने वाला' नाम पड़ गया। कहाँ तक कहे, सभी जानते हैं कि समाज मे वैमनस्य का कारण धर्मादाय का द्रव्य भी है।

१७ त्यक्त परिग्रह को ग्रहण करना वमन को भक्षण करने के तुल्य है।

१८. मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि परिग्रह ही संसार है और जब तक इससे प्रेम है कैसा भी तपस्वी हो संसार से मुक्त नहीं हो सकता।

१९ मुक्ति का मूल्य परिग्रह का अभाव है।

२०. जब हमारे पास परिग्रह है, तब हम कहें "हमें इसकी मूर्च्छा नही" यह असम्भव है। विकल्प जाल छूटना ही मोक्ष मार्ग का साधक है।

२१. यह ससार दुःख का घर है, आत्मा के लिये नाना प्रकार की यातनाओं से परिपूर्ण कारावास है। इससे वे ही महानुभाव पृथक् हो सकेंगे जो परिग्रह पिशाच के फन्दे में न आवेंगे।

२२. मूर्च्छा की न्यूनता में स्वात्मा की प्राप्ति हो सकती है।

२३. संसार में स्वाधीन कौन है ? त्यागी। परिग्रही नहीं।

२४. परिग्रह धर्म का साधक नहीं बाधक है।

२५. परिग्रह लेने में दुःख, देने मे दुःख, भोगने में दुःख, धरने में दुःख, सहने में दुःख! धिक्कार इस दुःखमय परिग्रह को!

२६ संसार में मूर्च्छा ही एक ऐसी शक्ति है जिसके जाल में सम्पूर्ण ससार फँसा हुआ है। वे धन्य हैं जिन्होंने इस जाल को तोड़कर स्वतन्त्रता प्राप्त की। इस जाल की यह प्रकृति है कि जो इसे तोडकर निकल जाता है वह फिर इसके बन्धन में नही आता परन्तु दूसरे को यह बन्धन रूप ही रहता है। अतः अब पुरुषार्थ कर इसे तोड़ो और स्वतन्त्र बनो।

२७ जब आयु का अन्त आवेगा यह सब आडम्बर यों ही पड़ा रह जायगा।

२८. जितना परिग्रह अर्जित होगा उतनी ही आकुलता वढ़ेगी। यद्यपि लौकिक उपकार परिग्रह से होता है परन्तु अन्त मे उतम पुरुष उसे त्यागते ही हैं।

२९ मूर्च्छा ही बन्ध का कारण है,परन्तु यह समझ मे नही आता कि वस्तु का संग्रह रहे और मूर्च्छा न हो। स्वामी कुन्द-कुन्द का तो यह कहना है कि जीव के घात होने पर बन्ध हो या न हो पर परिग्रह के सद्भाव मे बन्ध नियम से होता है। अतः जहाँ तक बने भीतर से मूर्च्छा घटाना चाहिये।

३०. आत्महित का मूल कारण व्यग्रता की न्यूनता है और व्यग्रता का मूल कारण परिग्रह की बहुलता है। यह एक भया-

नक रोग है इसी के वशीभूत होकर अनेक अनर्थों का उदय होता है, उन अनर्थों से वृत्ति हेयोपादेय शून्य हो जाती है और उसका फल क्या है ? सो सभी ससारी जीवों के सामने है।

३१. परिग्रह पर वही व्यक्ति विजय पा सकता है जो अपने को, अपने मे, अपने से, अपने लिये, अपने द्वारा आप ही प्राप्त करने की चेष्टा करता है। चेष्टा और कुछ नही, केवल अन्तरङ्ग मे पर पदार्थ मे न तो राग करता है और न द्वेष करता है।

३२. परिग्रह से मनुष्य का विवेक चला जाता है। और यह स्पष्ट ही है कि विवेक हीनता मे जो भी असत्कार्य हो जाय वह थोड़ा है।

स्वपर चिन्ता

१. चिन्ता चाहे अपनी हो चाहे पर की, बहुत ही भयङ्कर वस्तु है "चिता" और "चिंता" शब्द लिखने मे तो केवल एक बिन्दी मात्र का अन्तर है परन्तु स्वभावतः दोनों ही विलक्षण हैं। चिता मृत मनुष्य को एक ही बार जलाती है परन्तु चिन्ता जीवित मनुष्य को रह रहकर जलाती है।

२. परमार्थ की कथा का स्वाद तो भाग्यशाली जीव ही ले सकते हैं। वही परमार्थ का अनुयायी है जो सब चिन्ताओं से दूर रहता है।

३. इस काल में सत्पथ का पथिक वही हो सकता है जो पर की चिन्ताओं से अपने को बचा सके।

४ पर चिन्ता की गन्ध भी सुखावह नहीं।

५. चिन्ता आत्मा के पौरुष को क्षीण कर चतुर्गति भवावर्त में पातकर नाना दुःख का पात्र बना देती है।

६. पर चिन्ता से कभी पार न होगे। आत्म चिन्ता भी तभी लाभ दायक हो सकती है जब आत्मा को जानो, मानो और तद्रूप होने का प्रयास करो।

७. पर की चिन्ता कल्याण पथ का पत्थर है।

८. उन पुरुषों का अभी निकट ससार नहीं जो पर की चिन्ता करते हैं।

९. चिन्ता से आत्म परणति कलुषित और व्यग्र रहती है।

१०. जिनका मन चिन्ता से मलिन है उनके विशुद्धता का अंश कहाँ से उदय होगा ?

११ जिससे उत्तरोत्तर शरीर क्षीण और मन चञ्चल होता जाता है वह चिन्ता ही तो है। इसका त्याग करो और आत्महित में लगो।

१२ चिन्ता किसकी करते हो जब पर वस्तु अपनी नही तब उसकी चिन्ता से क्या लाभ ?

पर संसर्ग

१. पर संसर्ग पाप की जड़ है। जिसने इसे त्यागा वही सच्चारित्र का पात्र है।

२. पर ससर्ग छोड़ना निर्वृत्ति का कारण है।

३. पर पदार्थ के आश्रय से सुख का भोक्ता बनने की चेष्टा करना आकाश से पुष्प चयन के सदृश है।

४. जब तक पर पदार्थ से सम्बन्ध है तभी तक यह जीव परम दुःख का आस्पद है।

५ अन्य पदार्थों के संसर्ग से ही बन्ध होता है।

६. पर ससर्ग का विकल्प ही संसार है और उसका छूट जाना ही मोक्ष है।

७. पर संसर्ग से आकुलता होती है। आकुलता से स्नेह का अभाव, स्नेह के अभाव से वात्सल्य का अभाव, वात्सल्य के अभाव से सहृदयता का अभाव और सहृदयता के अभाव से पारस्परिक सद् व्यवहार का भी अभाव हो जाता है ?

८. पर संसर्ग अनर्थों का बीज, आपत्तियों की जड़, विपत्तियों की लता और मोह का फल है।

९ पर संसर्ग वह संक्रामक रोग है जिसकी ज्यों-ज्यों दवा करो त्यों-त्यों बढ़ता है।
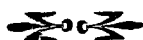
संकोच

१. संकोच एक ऐसी कषाय है जो आत्मघात का साधक है। जिन्होंने यह कषाय नही त्यागी वह धर्म के पात्र नहीं।

२ संकोच करना महापाप है।

३ संकोच का फल आत्म घात है।

४ जहाँ संकोच है, वही अनर्थों का घर है।

५ संकोच एक प्रकार की दुर्बलता है और वह दुर्बलता ही अनर्थों की जड है।

६ विषय कषाय के सेवन में संकोच करो धर्म के पालन करने मे संकोच का क्या काम ?

कायरता

१. त्याग धर्म में कायरता को स्थान नहीं।

२. कर्म शत्रुओं की विजय शूरों से होती है, कायरों से नही।

३. कायरता से शत्रु के बल की वृद्धि होती है और अपनी शक्ति का ह्रास होता है, अत जहाँ तक बने कायरता को अपने पास न फटकने दो।

४. दुःखमय संसार उसी के है जो अपनी आत्मा को हीन और कायर समझता है। जो शूर है उसे कुछ दुःख नहीं।

५. कायरता ससार की जननी है।

६. पर से न कुछ होता है न जाता है। आप ही से मोक्ष और आप ही से संसार दोनों पर्यायो का उदय होता है। आवश्यकता इस बात की है कि हम ससार मे भ्रमण करानेवाली कायरता को दूर करे।

७ "ससार असार है" इस वाक्य के वास्तविक अर्थ को न समझ कर लोग अर्थ का अनर्थ करते हैं। परिणाम यह होता है कि भोला मानव समाज कायर और कर्तव्य पथ से च्युत होकर त्यागी, साधु, उदासीन आदि अनेक भेषों को धारण कर भूतल का भारभूत हो जाता है। आज भारतवर्ष में हिन्दू

समाज में ही ५६००००० छप्पन लाख साधु हैं जो कहने को तो साधु हैं परन्तु उनके कर्तव्यों का वर्णन किया जाय तो दिल दहल जायगा। इन साधुओं के लिये यदि—"संसार में शूर-वीरता है" यह पाठ पढ़ाया जाय तो कोई अनर्थ नहीं। तब यह साधुसंघ शूरसंघ बनकर देश पर आँख उठानेवाले शत्रुओं को पराजित कर एक दिन कर्म शत्रु का भी ध्वंस कर दुनिया मे चकाचौंध कर दे।

८. ऐसे ईश्वर को मानकर हम क्या करें जिससे हमें कायरता की शिक्षा मिलती है। क्यों न हम उस तत्त्व को स्वीकार करें जो व्यक्ति स्वातत्र्य और उसकी परिपूर्णता का सूचक है।

९ यह मानना कि हम कुछ नही कर सकते सबसे बड़ी कायरता है। इसे त्यागो और आत्मपुरुषार्थ को जाग्रत करो। फिर देखोगे कि तुम्हारी उन्नति तुम्हारे हाथ मे है।

पराधीनता

१. हम लोग अनादिकाल से निरन्तर पराधीन रहे और उस पराधीनता में आत्मीय परिणति को पराधीनता का कारण न मान पर को उसका कारण मानते आये हैं। इसी प्रकार पराधीनता के बन्धन से मुक्त होने मे भी निरन्तर पर ही को कारण मानने की चेष्टा करते आये हैं। यही कारण है कि रोगी होने पर हम एकदम वैद्य को बुलाने की चेष्टा करते हैं। इसी प्रकार जब हम किसी प्रकार के दुःख से दुखी होते हैं तब कहते हैं—"हे भगवन् ! यदि हमारे नीरोगता हो गई तब आपका पूजा, पाठ, व्रत, विधान या पञ्चकल्याणक करेंगे !" पुत्र व धनादिक के लालची तो यहाँ तक बोली लगाते है—"हे चांदनपुर के महावीर ! यदि हमारे धन और बालक हो गया तो मैं आपको अखंड दीपक चढ़ाऊँगा ! हे काली कलकत्तेवाली ! तू जो चाहे सो ले ले पर एक लाड़ला लाल मुझे दे दे !" कितनी मूर्खता की बात है पर के द्वारा आत्म-कल्याण चाहते हैं। देवी देवताओं को भी लोभ लालच और लांच घूस देने की चेष्टा करते हैं। यह सब पराधीनता का विलास है, इसे त्यागो और शूरवीर बनो तभी कल्याण होगा।

२. संसार में दुःख की उत्पत्ति का मूल कारण पराधीनता है।

३. अन्तस्थ शत्रु का बल तभी तक है जब तक हम पराधीन हैं।

४ पराधीनता ही हमें ससार में बनाए है तथा वही निज स्वरूप से दूर किये है।

५ जहाँ पराधीनता है वहा सुख की मात्रा होना कठिन है।

६ पराधीनता में मोह की परिणति रहती है जो आत्मा के गुणों की बाधक है।

७ हम लोग अति कायर हैं जो अपने को पराधीनता के जाल में अर्पित कर चुके हैं। इसी से ससारयातनाओं के पात्र हो रहे हैं।

८ जो मनुष्य पराधीन होते हैं वे निरन्तर कायर और भयातुर रहते हैं।

९ जो आत्मा पराधीन होकर कल्याण चाहेगा वह कल्याण से वञ्चित रहेगा। अपने स्वरूप को देखो, ज्ञाता दृष्टा होकर प्रवृत्ति करो। चाहे भगवत् पूजा करो, चाहे विषयोपभोग में उपयुक्त होओ, उभयत्र अनात्मधर्म जान रत और अरत न होओ।

१० पराधीनता को त्याग कर अरहन्त परमात्मा ज्ञायक स्वरूप आत्मा ही पर लक्ष्य रखो। पास होते हुए भी कस्तूरी के अर्थ कस्तूरी मृग की तरह स्थानान्तर में भ्रमण कर आत्मशुद्धि की चेष्टा न करो।

११. पर की सहायता परमात्मपद की बाधक है।

१२. पराधीनता से बढ़कर कोई पाप नही।

प्रमाद

१. आत्मा का भोजन ज्ञान दर्शन है, जो उसके ही पास है, किसी से याचना करने की आवश्यकता नहीं। चरणानुयोग का कोई नियम भी लागू नहीं कि स्नान करके ही खाओ या दिन में ही खाओ फिर भी प्रमाद इतना बाधक है जिससे उस भोजन के करने में हम आलस कर देते हैं। अथवा कषाय रूपी विष मिला कर उसे ऐसा दूषित कर देते हैं जिससे आत्मा मूर्छित हो कर चतुर्गति का पात्र बनता है अतः प्रमाद का परिहार कर अपनी सावधानी मे कषाय विष मिलने का अवसर मत दो।

२. जो इस प्रमाद के वशीभूत होकर आत्मस्वरूप को भूलता है वही भौतिक पदार्थों के व्यामोह में फँसता है।

३. आज तक हम और आप जो इस ससार में भ्रमण कर रहे हैं उसका कारण प्रमाद ही है।

४. हिंसादि पाँच पापों का मूल कारण प्रमाद है।

५. पांच इन्द्रियों के विषय में रत होना प्रमाद है अतः इनका त्याग करो।

६. कषायों के वशीभूत होना भी प्रमाद है। कषायवान् आत्मा का आत्मकल्याण होना दुर्लभ है।

७. अप्रमत्त बनने के लिये विकथाओं का त्याग करना भी आवश्यक है।

८ जो निद्रालु और प्रणयवान हैं वे भला अप्रमादी कैसे हो सकते हैं।

९. प्रमाद संसार की वेल है इसका त्याग करो।

सुधासींकर

सुधासीकर

अध्यात्मखण्ड—

१. बाह्याडम्बर की शोभा वहीं तक है जहाँ तक स्वात्म-तत्त्व में आकुलता न होने पावे।

२. तत्त्वज्ञ वही है जो जगत् की प्रवृत्ति देखकर हर्ष विषाद न करे।

३. आत्मलाभ से उत्कृष्ट और कोई लाभ नहीं।

४. भोगी ही योगी हो सकता है। बिना भोग के योग नहीं।

५. गारा, ईंट, चूना से मकान ही बनता है, इन्द्रभवन नहीं। सांसारिक सुखों से शरीर ही सुखी होगा, आत्मा नहीं।

६. गृह छोड़ना कठिन नहीं मूर्च्छा छोड़ना कठिन है।

७. गृहस्थ धर्म को एकदम अकल्याण का मार्ग समझना मोक्ष मार्ग का लोप करना है।

८. केवल आत्म-संयम के अतिरिक्त संसार में विकल्पों की औषधि नहीं, और इसके अर्थ किसी को महान् मानना लाभदायक नहीं।

९. परघात में जब प्रमत्त योग होता है तभी हिंसा होती है, अन्यथा नहीं, परन्तु आत्मघात में तो प्रमत्तयोग का पर दादा मिथ्यात्व होने से हिंसा निश्चत रूप से है। अतः सबसे बड़ा पाप परघात है और उससे भी बड़ा पाप आत्मघात है।

१० रागद्वेष निवृत्ति पद जहां हा वही आत्मा है।

११. जब स्वात्म-रस का आस्वाद आ जाता है तब अन्य रस का विचार ही नहीं रहता।

१२. आत्मा का तथ्य श्रद्धान अनन्त क्रोधाग्नि को शान्त करने में समर्थ है।

१३. परपदार्थ न शुभ बन्ध का जनक है और न अशुभ बन्ध का जनक है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध से उन्हें मूल कर्त्ता मानना श्रेयोमार्ग में उपयोगी नही।

१४ दुःख का लक्षण आकुलता है और आकुलता का कारण रागादिक है। जो इन्हें आत्मीय समझता है वही दुःख का पात्र होता है।

१५. यह दृश्यमान पर्याय विजातीय जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों के सम्बन्ध से बनी है, अतः उसमें निजत्व मानना उतना ही हास्यास्पद और मूर्खतापूर्ण है जितना साझे की दुकान को केवल अपनी मानना हास्यास्पद है। इसलिए इस पर्याय से ममत्व छोड़ कर और निज में स्वत्व मान कर आत्म-द्रव्य की यथार्थता को अवगम कर पर की संगति से विरक्त होना ही स्वात्महित का अद्वितीय मार्ग है।

१६—स्वाध्याय आदि शुभ कार्यों में बाधा का मूल कारण केवल शरीर की दुर्बलता ही नहीं, मोह की सबलता भी है। इसे कृश करना अपने आधीन है। किन्तु जिस तरह शारीरिक

नीरोगता के लिये नियमित औषधि सेवन और पथ्य भोजन करना हितकर है उसी तरह मानसिक स्वस्थता के लिये निर्ग्रन्थ गुरु के रामबाण औषधि तुल्य उपदेशामृत का पान और आत्मीय गुणों में अनुरक्त रहना हितकर है।

१७. संसार में अनन्त पदार्थ हैं, और वे सर्वदा रहेंगे। उनका न कभी अभाव हुआ और न होगा। अतः अपने स्वरूप की ओर लक्ष्य रक्खो, पर के छोड़ने का प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि पर तो पर ही है, अतः पृथक् है ही।

१८. जैसे दीपक से दीपक होता है, वैसे ही परमात्मा के स्मरण से भी परमात्मा बन जाता है, किन्तु जैसे अरणि निर्मन्थन से अग्नि होती है, वैसे ही अपनी उपासना से भी परमात्मा हो जाता है।

१९. बाह्य व्रतादिकों में जबतक आभ्यन्तर विशुद्ध भावका समावेश न होगा, तब तक वे केवल कष्टप्रद ही होंगे।

२०. निवृत्तिमार्ग का न कोई समर्थक है, न कोई निषेधक है और न कोई उस पवित्र भाव का उत्पादक है। जिसके इस अभिवन्दनीय भाव की प्राप्ति हो गई उसे ही हम सिद्धात्मा की पूर्व अवस्था समझते हैं और उसी को भव्य कहते हैं।

२१. जैसे संसार को उत्पन्न करने में हम समर्थ हैं वैसे मोक्ष के उत्पन्न करने में भी हम स्वयं समर्थ हैं। अथवा यों कहना चाहिये कि आत्मा ही आत्मा को संसार और निर्वाण में ले जाता है अतः परमार्थ से आत्मा का गुरु आत्मा ही है।

२२ कर्मोदय की बलवत्ता वहीं तक अपना पुरुषार्थ कर सकती है जब तक आत्मा ने अपने स्वरूप की प्रतिष्ठा नहीं की। जिसने आत्मस्वरूप का अवलम्बन किया उसके समक्ष

कर्मोदय सूर्योदय में उल्लू की तरह अन्धा हो जाता है, आत्मा पर बार करने की उसमें कोई शक्ति नही रहती।

२३ जिस आचरण से आत्मा में निर्मलता का उदय नहीं हुआ वह आचरण दम्भ है।

२४ स्वाध्याय का फल भेदज्ञान और व्रतादि क्रिया का फल निवृत्ति है।

२५ पर की रक्षा करने से दया नहीं होती किन्तु तीव्र कषाय को शमन कर अपने आत्मीय गुण की रक्षा करना दया है।

२६ बाह्य क्रिया से अन्तरङ्ग की वासना का यथार्थ ज्ञान होना सर्वथा असम्भव है।

२७. वही जीव महा पुण्यशाली है जिसने अनेक प्रकार के विरुद्ध कारणों के समागम होने पर भी अपने चिद्रूप को अशुचिता से रक्षित रखा है।

२८. इधर उधर मत भटको, आपका आत्मा ही आपका सुधार करनेवाला है।

२९. जिस ज्ञानार्जन से मोह का उपशम नहीं हुआ उस ज्ञान से कोई लाभ नहीं।

३०. स्नेह संसार का कारण है परन्तु धार्मिक पुरुषों का स्नेह मोक्ष का कारण है।

३१. यदि राग बुरा है तो राग में राग करना और बुरा है।

३२ जिसने मानवीय पर्याय में रागादि शत्रु सेना का संहार कर दिया वही शूर है।

३३. आत्मज्ञान शून्य सभी प्रकार के व्यापार उसी तरह निष्फल हैं जिस प्रकार नेत्रविहीन सुन्दर मुख निष्फल है।

३४. यदि अहं बुद्धि हट जावे तब ममत्व बुद्धि हटने में कोई विलम्ब नहीं।

३५. यदि विकलता का सद्भाव है तब सम्यग्ज्ञानी और अनात्मज्ञानी में कोई अन्तर नहीं। जिस समय आत्मा से कर्म कलङ्क दूर हो जाता है उस समय आत्मा में शान्ति का उदय होता है। अतः कल्याण आत्मा से भिन्न वस्तु नहीं अपि तु आत्मा की ही स्वभावज परिणति है।

३६. अनुराग पूर्वक परमात्मा का स्मरण भी बन्ध का कारण है अतः हेय है। मूल तत्त्व तो आत्म ही है। जबतक अनात्मीय भाव औदयिकादि का आदर करेगा संसार ही का पात्र होगा।

३७. व्याधि का सम्बन्ध शरीर से है। जो शरीर को अपना मानते हैं उन्हें ही व्याधि है, भेदज्ञानी को व्याधि नहीं।

३८. जिन जीवों ने अपराध किया है उन जीवों को तत्काल अथवा कभी भी दण्डित करने या मारने का अभिप्राय न होना इसी का नाम प्रशम है। यह गुण मानव मात्र के लिए आवश्यक है।

३९. अनात्मीय भाव का पोषण करना विषधर से भी भयानक है।

४०. जो गुण अन्यत्र खोजते हो वे तुम्हारे नहीं, आत्मा का उनसे कोई उपकार नहीं, उपकार तो निज शक्ति से होगा, उसी का विकाश करना श्रेयस्कर है।

४१. सब से उत्कृष्ट दान ज्ञान दान है।

४२ आत्मीय गुण का विकाश उसी आत्मा के होगा जो पर पदार्थों से स्नेह छोडेगा। आत्मकल्याण का अर्थी शुद्धोपयोग के साधक जो पदार्थ हैं उनसे भी स्नेह छोड़ देता है तब अन्य की कथा ही क्या है।

४३ स्वय जिन 'कर्मों के' हम कर्त्ता बन रहे हैं यदि चाहें तो उन्हें हम ध्वस भी कर सकते हैं। जो कुम्भकार घट बना सकता है वही उसे फोड भी सकता है। इसी तरह जिस संसार का हमने सचय किया यदि हम चाहें तो उसका ध्वंस भी कर सकते हैं। वास्तव मे सचय करने की अपेक्षा ध्वंस करना बहुत सरल है। मकान बनवाने मे बहुत समय और बहुत साधनों की जरूरत होती है लेकिन ध्वस करने के लिये तो दो मजदूर ही पर्याप्त हैं।

४४. एक बार यथार्थ भावना का आश्रय लो और इन कलक भावों की ज्वाला को सतोष के जल से शान्त करो। इससे अपने ही आप अहं बुद्धि का प्रलय होकर 'सोऽहं' विकल्प को भी स्थान मिलने का अवसर न आवेगा। वचन की पटुता, काय की चेष्टा, मन के व्यापार, इन सबका वह विषय नहीं।

४५. जहाँ सूर्य है वहीं दिन है। जहाँ साधु जन हैं वहीं तीर्थ है। जहाँ निस्पृह त्यागी रहते हैं वहीं अच्छा निमित्त है।

४६ दान का द्रव्य ऋण है, उससे मुक्त होना ही अच्छा है। निमित्त मे शुभाशुभ कल्पना छोड़ना ही हितकारी है। निमित्त बलात्कार हमारा कुछ अनर्थ नहीं कर सकते। यदि हम स्वय उनमे इष्टानिष्ट कल्पना कर इन्द्रजाल की रचना करने लग जावे तब इसे कौन दूर करे ? हम ही दूर करनेवाले हैं। अतः

सर्व विकल्पों को छोड़ केवल स्वात्मबोध के अर्थ किसी को भी दोषी न समझ कर सबको हितकारी समझो।

४७. मेरी समझ में दो ही मार्ग उत्तम हैं एक तो गृहस्थावस्था में जल में कमल की तरह रहना और दूसरे जिस दिन पैसा से ममता छूट जावे, घर छोड़ देना।

४८ जब तुम्हें शान्ति मिल जावे तब दूसरे को उपदेश दो। जब तक अपनी कषाय न जावे अन्य को उपदेश देना वेश्या को ब्रह्मचर्य का उपदेश देने की भाँति है।

४९. सहसा घर मत त्यागो, जिस दिन त्याग की इच्छा के अनुकूल साधन हो जावें और परिणामों में सांसारिक विषयों से उदासीनता हो जावे विरक्त हो जाओ।

५०. ससार में कोई किसी का नहीं। व्यक्ति अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है। अतः जब ऐसी व्यवस्था अनादि निधन है तब पर के सम्पर्क से असम्भव द्वैत बनने की चेष्टा करना क्या आकाश से पुष्पचयन करने के सदृश नही है?

५१ ससार मे देखिये वास्तव में कोई भी पूर्ण सुखी नही है, क्यों कि जिसे हम सुखी समझते हैं वह भी अंशतः दुखी ही है।

५२. योग्यता देखकर दान करने से ससार लतिका का नाश होता है। अयोग्यता से संसार बढ़ता है।

५३. अपने में पर के प्रति निर्मलता का भाव होना ही स्वच्छता है।

५४. द्रव्य का मिलना कठिन नहीं परन्तु उसका सदुपयोग विरले ही पुण्यात्माओंके भाग्य मे होता है।

५५. अपराधी व्यक्तिपर यदि क्रोध करना है तो सबसे बड़ा अपराधी क्रोध है वही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का शत्रु है, अतः उसीपर क्रोध करो।

५६. शरीर को सर्वथा निर्बल मत बनाओ। व्रत उपवास करो, परन्तु जिसमें विशेष आकुलता हो जावे ऐसा व्रत मत करो, क्योंकि व्रत का तात्पर्य आकुलता दूर करना है।

५७. संसार में किसी को शान्ति नहीं। केले के स्तम्भ में सार की आशा के तुल्य संसार-सुख की आशा है।

५८. गुरु शिष्य का व्यवहार मोह की परिणति है, वास्तव मे न कोई किसी का शिष्य है न कोई किसी का गुरु है। आत्मा ही आत्मा का गुरु है और आत्मा ही आत्मा का शिष्य है।

५९. आडम्बर और है वस्तु और है, नकल मे पारमार्थिक वस्तु की आभा नहीं आती। हीरा की चमक काँच मे नहीं। अत. पारमार्थिक धर्म का व्यवहार से लाभ होना परम दुर्लभ है। इसके त्याग से ही उसका लाभ होगा।

६०. ममत्व ही बन्ध का जनक है।

६१. जहां तक बने पर के जानने देखने की इच्छा को छोड़ निज को जानना देखना ही श्रेयस्कर है।

६२. अपनी आत्मगत जो त्रुटि है उसको दूर करने का यत्न करने से यदि अवकाश पा जाओ तब अन्य का विचार करो।

६३. मुख्यता से एकत्व परिणत आत्मा ही मोक्ष का हेतु है।

६४. स्वात्मोन्नति के लिये जहां तक बने दृढ़ अध्यवसाय की आवश्यकता है। शरीर की कृशता उस कार्य में उपयोगी नहीं।

६५. सबकी बात सुन कर स्वात्मतत्त्व की प्राप्ति में जो साधक हो उसे करो, शेष को त्याग दो।

६६. व्रत का माहात्म्य वहीं तक कल्याणकारी है जहां तक ध्यान और अध्ययन में वह बाधक न हो।

६७. जिसे क्षमा का स्वाद आ गया वह क्रोधाग्नि में नहीं जल सकता। पुस्तकाभ्यास का फल आभ्यन्तर शान्ति है यदि आभ्यन्तर शान्ति न आई तब पुस्तकाभ्यास केवल कायक्लेश ही है।

६८ चित्त का संतोष कर लेना अन्य बात है, और आभ्यन्तर शान्ति का रसपान करना अन्य बात है।

६९. वही बाह्य क्रिया सराहनीय है जो आभ्यन्तर की विशुद्धता में अनुकूल पड़े। केवल आचरण से कुछ नहीं होता, जबतक कि उसके गर्भ में सुवासना न हो। सेमर का फूल देखने में अति सुन्दर होता है, परन्तु सुगन्ध शून्य होने से किसी के उपयोग में नहीं आता।

७० मोह के उदय में बड़ी बड़ी भूलें होती हैं। अतः जहां तक बने अपनी भूल देखो, पर की भूल से हमें क्या लाभ।

७१. जिनमें आत्मा के गुणों का विकास होता है वही पूज्य होते हैं। जहां पर ये गुण विकृतावस्था में होते हैं वहीं अपूज्यता होती है।

७२. जो यह वैषयिक सुख है, वह भी दुःख रूप ही है, क्योंकि जब तक वह होता नहीं तब तक तो उसके सद्भाव की आकुलता रहती है और होने पर भोगने की आकुलता रहती है। आकुलता ही जीव को सुहाती नहीं, अतः वही दुःखावस्था है।

७३. संसार को प्रायः सभी दुखात्मक कहते हैं, यदि संसार दुःख रूप है तब यह जो हमको शुभ कार्यों के करने का उपदेश दिया जाता है वह क्यों ? क्यों कि शुभ कर्म भी तो बाधक हैं। वास्तव में ससार में दुःख दिखा कर लोगों को उत्साह से वञ्चित कर दिया जाता है। असल में संसार किसी स्थान का नाम नहीं, रागादि रूप जो आत्मा की परणति है उसी का नाम संसार है। और जहां रागादि परिणामों का अभाव हुआ वहां आत्मा का मोक्ष है।

७४. अभिलाषा अनात्मीय वस्तु है। इसका त्यागी ही आत्मस्वरूप का शोधक है।

७५. सब आत्माएँ समान हैं केवल पर्याय दृष्टि से ही भेद है।

७६. जो मनोनिग्रह करने मे समर्थ है उसे मोक्ष महल समीप है अन्य कार्यों की निष्पत्ति तो कोई वस्तु नही।

लौकिक खण्ड

१. जब जैसा जिसके द्वारा होना होता है होकर ही रहता है।

२. जिसको बहुत दिन से सोचते हैं वह कार्य होता नही, जिसका कभी स्वप्न मे भी विचार नहीं करते वह अकस्मात् सामने आ पड़ता है। राजतिलक की तयारी करते समय किसने सोचा था कि श्रीराम को बनवास होगा ? विधि का बिलास विचित्र और होनी दुर्निवार है !

३. मार्गदर्शक वही हो सकता है जो सरल और निस्पृह हो।

४. कहने की अपेक्षा मार्ग मे लग जाना अच्छा है।

५. अति कल्पना किसी भी प्रयोजन को सिद्ध नही कर सकती।

६. सच्चा हितैषी वही है जो अपने आत्मीय जनों को हित की ओर ले जावे।

७. जिस देश मे जाति की रक्षा के अर्थ मनुष्यों की चेष्टा न हो वहाँ रहना उचित नहीं। हम तो जाति के हीन बालकों के सामने धन को बड़ा नही समझते। हमारा तो यह विश्वास है कि धार्मिक बालकों की रक्षा से उत्कृष्ट धर्म इस काल मे अन्य नही। इनकी रक्षा के आधीन ही धार्मिक स्थानों की रक्षा है।

८. ऊपरी लिबास से अन्तरङ्ग मे चमक नहीं आती।

९ "वचन की सुन्दरता से अन्तरङ्ग की वृत्ति भी सुन्दर हो यह नियम नही।

१० अपनी भूलों से शिक्षा न लेनेवाला मनुष्य मूर्ख है। मूर्ख ही नहीं मनुष्य व्यवहार के योग्य नहीं। प्रत्येक मनुष्य से भूल होती है, फिर से उस भूल को न करना ही विज्ञानी बनने का पाठ है।

११. वह मनुष्य महा मूर्ख है जो बहुत बकवाद करता है।

१२. जो आदमी लक्ष्यभ्रष्ट हैं वे ही सबसे बड़े मूर्ख हैं। उनका समागम छोड़ना ही हितकारी है।

१३. जो गुड़ देने से मरे उसे विष कभी मत दो। इसका तात्पर्य यह कि जो मधुर वाणी से अपना दुर्व्यवहार छोड़ दे उसके प्रति कटु वचनों का प्रयोग मत करो।

१४. व्याख्यान देना सरल है किन्तु इस पर अमल करना महान् कठिन है।

१५. जिस कार्य से स्वयं की आत्मा दुखी हो उसे पर के प्रति करना उचित नहीं।

१६. वरदान वहाँ माँगा जाता है जहाँ मिलने की सम्भावना हो।

दैनन्दिनी के पृष्ठ

दैनन्दिनी के पृष्ठ

१. दैनन्दिनी (डायरी) का यही उपयोग है कि अपनी अतीत जीवन यात्रा का आद्योपान्त सिंहावलोकन कर दोषों को दूर किया जाय, गुणों का सञ्चय किया जाय और उज्वल भविष्य निर्माण के लिए स्वपर हित में प्रवृत्त होकर आदर्श बना जाय ।

२. आज की बात को कल पर मत छोड़ो ।

पौष कृष्णा १२ वी २४६३

३. आकुलता का मूल कारण इच्छा है, इच्छा का मूल कारण वासना है, वासना का मूल कारण विपरीत आशय है और विपरीत आशय का मूल कारण परपदार्थ में स्वात्म-बुद्धि है ।

पौष कृष्णा १३ वीराब्द २४६३

४. व्रत में सावधानी रखो, केवल भूखे रहना कार्यकर नहीं ।

पौष कृ. १४ वी २४६३

५. धर्म वह वस्तु है जहाँ कषाय पूर्वक मन, वचन, काय के व्यापार रुक जावें । वही धर्म मोक्षमार्ग है ।

पौष शुक्ला ३ वी. २४६३

६. यदि आत्म-कल्याण की इच्छा है तब मन, वचन काय के व्यापार को कषाय मिश्रित मत करो।

पौष शु. ४ वी. २४६३

७. पर को दिखाने के लिए कोई काम न करो। जिन प्राणियों के सम्बन्ध से सुख का अभाव हो उन्हें छोड़ना ही अच्छा है।

पौष शु ५ वी २४६३

८ पर का उत्कर्ष देख ईर्षा और अपना उत्कर्ष देख गर्व मत करो।

पौष शु. ६ वी २४६३

९. अधिक सम्पर्क मत रखो, यह एक रोग है जो बढ़ते बढ़ते असह्य दुःख का कारण हो जाता है।

पौष शु. १३ वी. २४६३

१० अच्छे कार्य करते समय प्रसन्न रहो, यदि पाप का कार्य बन जावे तब उत्तर काल में आत्मनिन्दा करते हुए भविष्य में वह कार्य न हो ऐसा प्रयत्न करो, यही प्रायश्चित्त है।

माघ कृष्णा ७ वी २४६३

११. सच और झूठ छिपाये नहीं छिपता, अतः इस बात को भूल जाओ कि हम जो कुछ भी अकार्य करते हैं उसे कोई देखनेवाला नहीं।

माघ कृ ८ वी २४६३

१२. विपत्ति से रक्षा के लिए धन सञ्चय की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता सयम भाव द्वारा आत्मरक्षा की है।

माघ कृ ९ वी २४६३

१३. अपना स्वभाव अभिमान आदि अवगुणों से रहित, भोजन विशेष चटपटी चीजों से रहित और वस्त्र चाक्यचिक्य से रहित स्वदेशी शुद्ध खादी के रखो, देशभक्त बन जाओगे।

माघ कृ १० वी. २४६३

१४. दोनों पक्षों का हाल जाने बिना न्याय न करो। न्याय करते समय पक्ष-विपक्ष का पूर्ण परामर्श कर जिस पक्ष के साधक प्रमाण प्रबल हों उसी का समर्थन करो।

माघ शु. १ वी. २४६३

१५. मार्ग में सुख है अतः कुमार्ग पर मत जाओ। जिन गुणों से पतित आत्मा का उद्धार होता है वह गुण प्राणी मात्र मे हैं।

माघ शु. १२ वी. २४६३

१६. "कहने से करने मे महान् अन्तर है" जिन्होंने इस तत्त्व को नहीं जाना वे मनुष्य नहं पामर हैं।

माघ शु. १३ वी. २४६३

१७. किसी को धोखा मत दो। धोखेबाजी महान् पाप है।

माघ शु. १४ वी २४६३

१८. बिना परिग्रह की कृशता के व्रत का धारण करना अनर्थ परम्परा का हेतु है। जो निरुद्यमी होकर त्याग करते हैं वे अनर्थ पोषक हैं।

फाल्गुन कृ. १ वी. २४६३

१९. शिक्षाप्रद बात बच्चे की भी मानो। अपनी प्रकृति को सुधारने की चेष्टा करो, तभी आपका उपदेश दूसरों पर असर कर सकता है।

फाल्गुन कृ ५ वी २४६३

२०. आवश्यकता से अधिक धन रखना सरासर चोरी है।

ज्येष्ठ कृ. ८ वी, २४६३

२१. सत्य के सामने सभी आपत्तियाँ विलय को प्राप्त हो जाती है।

ज्येष्ठ कृ. १३ वीं २४६३

२२. उसी भाव का आदर करो जो अन्त में सुखद हो। और उस भाव को मूल से विच्छेद करो जो मूल से लेकर विपाक काल तक कष्टप्रद है।

ज्येष्ठ शु ७, ८ वी २४६३

२३ बहु सङ्कल्पों की अपेक्षा अल्प कार्य करना श्रेयस्कर है।

श्रावण शु. ७ वी, २४६३

२४. जो मानव हृदयहीन हैं वे मित्रता के पात्र नहीं।

कार्तिक कृ. ४ वी, २४६३

२५. जन्म की सार्थकता स्वात्म हित में है। जो मनुष्य पर संसर्ग करता है वह संसार बन्धन का पात्र होता है।

कार्तिक शु ७ वी २४६४

२६. आत्महित मे प्रवृत्ति करने से अनायास ही अनेक यातनाओं से मुक्ति हो जाती है।

का. शु. ९ वी, २४६४

२७. जो मनुष्य संसार मे स्त्री के प्रेम मे आकर अपनी परिणति को भूल जाता है वह संसार बन्धन से नहीं छूट सकता।

कार्तिक शु. १२ वी २४६४

२८. जिसके पास ज्ञान धन है वही सच्चा धनी है।

मार्गशीर्ष कृ. ५ वी २४६४

२६. ऐसा कार्य मत करो जो पश्चात्ताप का कारण हो।

मार्गशीर्ष कृ १० वी २४६४

३०. लोक की मान्यता आत्मकल्याण की प्रयोजक नहीं, आत्मकल्याण की साधक तो निरीहवृत्ति है।

मार्ग. कृ १२ वी २४६४

३१. संसार अशान्ति का पुञ्ज है, अतः जो भव्य शान्ति के उपासक हैं उन्हें अशान्ति उत्पादक मोहादि विकारों की यथार्थता का अभ्यास कर एकान्तवास करना चाहिये।

मार्ग. कृ १४ वी २४६४

३२. प्रत्येक व्यक्ति के अभिप्राय को सुनो परन्तु सुनकर एकदम बहक मत जाओ। पूर्वापर विचार करो, जिससे आत्मा सहमत हो वही करो। बातें सुनने मे जितनी कर्णप्रिय होती हैं उनके अन्दर उतना रहस्य नही होता। रहस्य वस्तु की प्राप्ति मे है, दर्शन में नहीं, मिश्री का स्वाद चखने से आता है देखने से नहीं।

पौष कृ ४ वी. २४६४

३३. प्रत्येक कार्य का भविष्य देखो, केवल वर्तमान परिणाम के आधार पर कोई काम न करो, सम्भव है उत्तर काल में असफल हो जाओ।

पौष कृ. ५ वी. २४६४

३४. जो प्रारम्भ करते हैं, वे किसी समय अन्त को भी प्राप्त होते हैं, क्योंकि उनकी सीमा नियमित है। जो कार्य नियम पूर्वक किया जाता है वह एक दिन सिद्ध होकर ही रहता है।

पौष कृ १४ वी. २४६४

३५. सयम की रक्षा परम धर्म है।

पौष कृ ३ वी. २४६४

३६. यदि संसार यातनाओं का भय है तब जिन निमित्तों और उपादान द्वारा वे उत्पन्न होती हैं उनमें स्निग्धता को छोड़ो।

पौष शु ९ वी. २४६४

३७. विचारधारा को निर्मल बनाने के लिये वे वचन बोलो जो लक्ष्य के अनुकूल हों।

माघ कृ. १ वी. २४६४

३८. वही जीव प्रशस्त और उत्तम है जो पर के सम्पर्क से अपने को अन्यथा और अनन्यथा नहीं मानता।

माघ कृ. २ वी. २४६४

३९. सुख का कारण सक्लेश परिणाम का अभाव है।

माघ शु. ६ वी. २४६४

४०. जहाँ तक देखा गया आत्मा स्वकीय उत्कर्ष की ओर ही जाता है। कोई भी व्यक्ति स्वकीय उच्चता का पतन नहीं चाहता, अतः सिद्ध हुआ कि आत्मा का स्वभाव उच्चतम है। इसलिये जो नीचता की ओर जाता है वह आत्म स्वभाव से च्युत है।

माघ शु. ११ वी २४६४

४१. स्वरूप सम्बोधन ही कार्यकारी और आत्मकल्याण की कुञ्जी है। इसके बिना मनुष्य जन्म निरर्थक है।

फाल्गुन कृ. ७ वी. २४६४

४२ लोगों की प्रशंसा स्वात्म साधन में मोही जीव को बाधक और ज्ञानी जीव को साधक है।

फाल्गुन कृ. ११ वी. २४६४

४३. पुण्यबन्ध का कारण मन्द कषाय है। जहाँ मानादि के वशीभूत होकर केवल द्रव्य लेने और प्रशंसा कराने का अभिप्राय रहता है वहां पुण्यबन्ध होना अनिश्चित है।

फाल्गुन कृ. १२ वी. २४६४

४४. आत्मा जिस कार्य से सहमत न हो उस कार्य के करने में शीघ्रता न करो।

फाल्गुन शु. ३. वी. २४६४

४५. किसी के प्रभाव में आकर सन्मार्ग से वञ्चित मत हो जाओ। यह जगत् पुण्य पाप का फल है अतः जब इसके उत्पादक ही हेय हैं तब यह स्वयमेव हेय हुआ।

४६. किसी भी कार्य के करने की प्रतिज्ञा न करो। कार्य करने से होता है प्रतिज्ञा करने से नहीं।

चैत्र कृष्ण ३ वी. २४६४

४७. अज्ञानता के सद्भाव में परम तत्त्व की आलोचना नही बनती। परम तत्त्व कोई विशेष वस्तु नहीं, केवल आत्मा की शुद्धावस्था है, जो अज्ञानी जीव को नहीं दिखती।

चैत्र कृ. ११ वी. २४६४

४८. साधनहीन जीवों पर दया करना उत्तम है परन्तु उन्हें सुमार्ग पर लाना और भी उत्तम है।

चैत्र शु २ वी. २४६४

४९ जब तक पूर्व का अवधार न हो जाय आगे न चलो।

वैशाख कृ ८ वी. २४६४

५०. पर के छिद्र देखना ही स्वकीय अज्ञानता की परम अवधि है।

वैशाख कृ. ३० वी. २४६४

५१. अज्ञानता पाप की जड़ है।

वैशाख शु. ९ वी. २४६४

५२. जो मनुष्य अपने मन पर विजयी नहीं संसार में उसकी अधोगति निश्चित है।

वैशाख सुदी १३ वी. २४६४

५३ प्रवृत्ति वही सुख कर होती है जो निवृत्ति परक हो।

ज्येष्ठ कृ. ३ वी. २४६४

५४. जिसने आत्म गौरव त्यागा वह मनुष्य मनुष्य नहीं।

जेष्ठ कृ. ५ वी. २४६४

५५. जिन महापुरुषों ने अपने को जाना वही परमात्मा पद के अधिकारी हुए।

५६. महापुरुष होने का उपाय केवल अपने आत्म गौरव की रक्षा करना है। परन्तु आत्मगौरव का अर्थ मान करना और अपनी तुच्छता दिखाना नहीं है। क्योंकि आत्मा न उच्च है, न नीच है, अतः ऊँच नीच की कल्पना का त्याग ही आत्मगौरव है और वही आत्म पद में स्थिरता का प्रधान कारण है।

५७. संसार से याचना करना महती लघुता का पोषक है।

श्रावण कृ. ५ वी. २४६४

५८. विचारधारा पवित्र बनाने के लिये उत्तम संस्कार बनाने की बड़ी आवश्यकता है।

५९. केवल शास्त्र जानने से ही मोक्ष मार्ग की सिद्धि नहीं होती, सिद्धि का कारण अन्तरङ्ग त्याग है।

६०. यदि मोक्ष की अभिलाषा है तो एकाकी बनने का

प्रयत्न करो। अनेक वस्तुओं से प्रेम करना आत्मा के निजत्व का घातक है।

६१. इस संसार में जो जितना अधिक बात और बाह्य वस्तु जाल से सम्बन्ध करेगा वह उतना ही अधिक व्यग्र और दुखी होगा।

अश्विन कृ. ३ वी. २४६४

६२. पर को सुखी करके अपने को सुखी समझना परोपकारी का कार्य है।

६३. वे क्षुद्र जीव हैं जो पर विभव देखकर निरन्तर दुखी रहते हैं।

अश्विन शु. ९ वी. २४६४

६४. विजया दशमी मनाने की सार्थकता तभी है जब कि पञ्चेन्द्रियों की विषय सेना के स्वामी रावण राक्षस रूप मन का निपात किया जाय।

अश्विन शु. १० वी. २४६४

६५ मौन का फल निरीहवृत्ति है अन्यथा मौन से कोई लाभ नहीं।

अश्विन शु १३ वी. २४६४

६६. संसार में सब वस्तुएँ सुलभ हैं परन्तु आत्म विवेक होना अति दुलभ है।

कार्तिक कृ. १ वी. २४६४

६७ जब कभी भी चित्तवृत्ति उद्विग्न हो तब स्वात्म वृत्ति क्या है इस पर विचार करो, चित्त स्थिर हो जायगा।

कार्तिक शु. २ वी. २४६५

६८ विचार करना कठिन है परन्तु सद्विचार करना और भी परम दुर्लभ है।

कार्तिक शु ३ वी. २४६५

६९. जिन्होंने अन्तरङ्ग से पर वस्तु की अभिलाषा त्याग दी उनका संसार समुद्र पार होना अति सुगम है।

अगहन कृ. १ वी. २४६५

७०. ससार मे विशुद्ध परिणाम ही सुख की सामग्री सम्पन्न कर सकते हैं।

अगहन कृ. ८ वी. २४६५

७१. जिसके जितनी उत्तम परिणामों की परम्परा होगी वह उतना ही अधिक सुखी होगा।

अगहन शु. २ वी. २४६५

७२. संसार मे कोई किसी का शत्रु नहीं, हमारे परिणाम ही शत्रु है। जिस समय हमारे तीव्र कषाय रूप परिणाम होते हैं उस समय हम स्वयं दुःखी हो जाते है तथा पापोपार्जन कर दुर्गति के पात्र बन जाते हैं। अतः यदि सुख की अभिलाषा है तो सभी को अपना मित्र समझो, सभी से मैत्रीभाव रखो।

अगहन शु ३ वी २४६५

७३. बिना स्वात्मकथा के आत्महित होना अति कठिन है।

अगहन शु १५ वी. २४६५

७४. अभिलाषाएँ संसार में दुःखों का मूल हैं।

पौष कृ. १२ वी. २४६५

७५. वही मनुष्य योग्य और श्रेयोमार्ग का अनुगामी हो सकता है जो अपनी शक्ति के अनुरूप कार्य करता है।

पौष शु ५ वी. २४६७

७६. जितने पाप संसार में हैं उन सब की उत्पत्ति का मूल कारण मानसिक विकार है। जब तक वह शमन न होगा सुख का अंश भी न होगा।

माघ शु. ७ वी. २४६७

७७. आपको आपरूप देखना ही शुद्धि का कारण है।

माघ शु. ८ वी. २४६७

७८. आयु की अनित्यता जानकर विरक्त होना कोई विरक्तता नहीं किन्तु वस्तु स्वरूप जानकर अपने स्वरूप में रम जाना ही विरक्तता है।

माघ शु. ९ वी. २४६७

७९. धन का मद विलक्षण मद है जो मनुष्य को बिना पिये ही पागल बना देता है।

चैत्र कृ. १ वी. २४६७

८०. व्रत करने में अन्तरङ्ग निर्मलता और निरीहता की आवश्यकता है, दुर्बलता उतनी बाधक नहीं। क्योंकि निर्बल से निर्बल मनुष्य परिणामों की निर्मलता से मोक्षमार्ग के पात्र बन जाते हैं जब कि निर्मलता के अभाव मे सबल से सबल भी मनुष्य संसार के पात्र बने रहते हैं।

अषाढ़ कृ. ८ वी २४६७

८१. संक्लेश परिणाम आत्मा में दुःख का कारण और परिपाक में पाप का कारण है।

श्रावण कृ. ९ वी. २४६७

८२. अपने पर दया करोगे तभी अन्य पर दया कर सकोगे।

श्रावण कृ. १३ वी. २४६७

८३. वही विचार प्रशस्त होते हैं जो आत्महित के पोषक हों।

श्रावण शु. २ वी. २४६७

८४ जो संसार समुद्र से पार लगा देते हैं वे ही परमार्थतः गुरु हैं, और वे ही मोक्षमार्ग में उपकारी हैं।

श्रावण शु ८ वी. २४६७

८५. हित मित असंदिग्ध वचन ही प्रशस्त होते हैं अतः जो मनुष्य बहुत बोलता है वह आत्मज्ञान से पराङ्मुख हो जाता है।

अश्विन कृ ११ वी २४६७

८६. नियम का उलघन करना आत्मघात का प्रथम चिन्ह है।

अश्विन कृ० १४ वी. २४६७

८७. आत्महित के सम्मुख होना ही पर हित की चेष्टा है।

प्रथम ज्येष्ठ कृ ९ वी. २४६८

८८. व्रत वह है जो दम्भ से विमुक्त है। जहाँ दम्भ है वहाँ व्रत नहीं।

द्वितीय ज्येष्ठ कृ. ४ वी. २४६८

८९. बल वही उत्तम है जो दीनों की रक्षा करे।

द्वि. ज्येष्ठ कृ. ६ वी. २४६८

९०. बात वही अच्छी है जो स्वपर हित साधक हो।

द्वि. ज्येष्ठ शु. २ वी. २४६८

९१. कोई किसी का नहीं है। जैसे एक रुपया में दो २ अठन्नियाँ, ४ चवन्नियाँ, ८ दुअन्नियाँ, १६ एकन्नियाँ, ३२ टके, ६४ पैसे, १२८ धेले, १९२ पाई आदि भाग होते हैं फिर भी ये एक

दूसरे की सत्ता से भिन्न भिन्न हैं। यदि ये सभी भाव एक होते तो दो अठन्नियों के मिलने पर भी (एक रुपया व्यवहार न होकर) अठन्नी ही व्यवहार होता, परन्तु ऐसा नहीं होता। रुपये को रुपया कहा जाता है, अठन्नी को अठन्नी, चवन्नी को चवन्नी, और पाई को पाई। इससे सिद्ध है कि सभी पदार्थ अपनी अपनी सत्ता से पृथक् पृथक् हैं। जब भिन्नता की ऐसी स्थिति का ज्ञान हो जाय तब पर को अपना मानना सर्वथा-शिरोमूर्खता है।

कार्तिक शु. १५ वी. २४६९

६२. जो भी कार्य करो, निष्कपट होकर करो, यही मानव की मुख्यता है।

अगहन शु. १३ वी. २४६९

६३. मन की शुद्धि बिना कायशुद्धि का कोई महत्त्व नहीं।

अगहन शु. १५ वी. २४६९

६४. जो मनुष्य अपने मनुष्यपने की दुर्लभता को देखता है वही संसार से पार होने का उपाय अपने आप खोज लेता है।

पौष कृ. ८ वी. २४६९

६५. समय जो आना है वह आता नहीं, मत आओ और उसके आने से लाभ भी नहीं; क्योंकि एक काल में द्रव्य की एक ही पर्याय होती है। तब जो समय विद्यमान है उसमें जो कुछ भी उपयोग बने करो, करना अपने हाथ की बात है केवल बातों से कुछ नहीं होगा। बातें करते करते अनन्त काल अतीत हो गया परन्तु आत्मा का हित नहीं हुआ।

पौष कृ. १० वीराब्द २४६९

६६. जो स्पष्ट व्यवहार करते हैं वे लोभवश अपयश के

पात्र नहीं होते। संकोच में आकर जो मानव आत्मा के अन्तरङ्ग भाव को व्यक्त करने से भय करते हैं वे अन्त में निन्दा के पात्र होते हैं। यथार्थ कहने में भय करना वस्तु स्वरूप की मर्यादा का लोप करना है। जो मनुष्य संसार को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं वे अपनी आत्मा को अकल्याण के गर्भ में पात करते हैं। मानव जन्म उसी का सफल है जो आत्मा को अपना जाने।

पौष कृ. १४ वी. २४६९

६७, किसी की परोक्ष में निन्दा करना उसके सम्मुख कहने की अपेक्षा महान् पापास्रव का कारण है। पर की निन्दा करने से आत्मप्रशंसा की अभिलाषा का अनुमान होता है अथवा पर के द्वारा पराई निन्दा श्रवण कर सम्मत होना यह भाव भी अत्यन्त पापास्रव का जनक है।

पौष शु. २ वी. २४६९

६८. आत्मा जब तक अपनी प्रवृत्ति को स्वच्छ नहीं बनाता तभी तक वह अनेक दुःखों का पात्र होता है, क्योंकि मलिनता ही आत्मा को पर वस्तुओं में निजत्व की कल्पना कराती है।

पौष शु १० वी. २४६९

६९. "किसी को मत सताओ" यही परम कल्याण का मार्ग है। इसका यह तात्पर्य है कि जो पर को कष्ट देने का भाव है वह आत्मा का विभाव भाव है, उसके होते ही आत्मा विकृत अवस्था को प्राप्त हो जाता है और विकृत भाव के होते ही आत्मा स्वरूप से च्युत हो जाता है। स्वरूप से च्युत होते ही आत्मा नाना गतियों का आश्रय लेता है और वहाँ नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव करता है, इसी का नाम कर्मफल चेतना

है। कर्मफल चेतना का कारण कर्मचेतना है जब तक कर्म-चेतना का सम्बन्ध न छूटेगा इस संसार चक्र से सुलझना कठिन ही नहीं असम्भव है।

माघ कृ. १२ वी. २४६९

१००. जिसने रागद्वेष को नहीं त्यागा वह व्यर्थ ही लोगों की वचना करने के अर्थ बाह्य तपस्वी बना हुआ है। और अन्य की दृष्टि भी उसे तपस्वी रूप मे देखतो है परन्तु उससे पूँछो तो वह यही कहता है कि मै दम्भी हूँ, केवल अन्य लोग मुझे मिथ्या श्रद्धा से तपस्वी समझ रहे हैं, वे सब बुद्धि से हीन हैं।

माघ कृ. १४ वी. २४६९

१०१. जो कुछ करना है उसे अच्छे विचारों से करो। संसार की दशा पर विचार करने से यह स्थिर होता है कि यहाँ पर कोई भी कार्य स्थिर नहीं, तब किसी भी कार्य को करने की चेष्टा मत करो, केवल कैवल्य होने का प्रयास करो।

माघ शु २ वी. २४६९

१०२. संसार को प्रसन्न बनाने की चेष्टा ही ससार की माता हैं।

माघ शु. ३ वी. २४६९

१०३. यदि आत्मा को अव्यग्र रखने की अभिलाषा है तब—

१—पर पदार्थों के साथ सम्पर्क न करो (२) किसी से व्यर्थ पत्रव्यवहार न करो (३) और न किसी से व्यर्थ बात करो (४) मन्दिर जी में एकाकी जाओ (५) किसी दानी की मर्यादा से अधिक प्रशंसा कर चारण बनने की चेष्टा मत करो,

दान जो करेगा सो अपनी आत्मा के हित की दृष्टि से करेगा, हम उसके गुणगान करें सो क्यों ? गुणगान से यह तात्पर्य है कि आप उसे प्रसन्न कर अपनी प्रशंसा चाहते हो। इसका यह अर्थ नहीं कि किसी की निन्दा करो उदासीन बनो।

माघ शु. ८ वी. २४६९

१०४. इस दुःखमय संसार में जीवन सबको प्रिय है इसके अर्थ ही प्राणी नाना प्रकार के यत्न करता है, सर्वस्व देकर जीवन की रक्षा चाहता है। इसके अर्थ ही ज्ञान का अर्जन, तप का करना और परिग्रह का त्याग आदि अनेक कारणों को मिलाता है और स्वीय जीवन को शान्तिमय बनाने का यत्न करता है। यह सर्वत्याग अन्तरंग लाभ के बिना निरर्थक है।

माघ शु. १२ वी. २४६९

१०५. जिसने आत्मा की सरलता की ओर लक्ष्य दिया वह स्वयमेव अनेक द्वन्द्व से बच गया, परकी संगति से आत्मा की परिणति अति कुटिल और कलुषित हो जाती है। इसका उदाहरण देखो सोना चाँदी के संग से अपनी महत्ता खो देता है।

फाल्गुण शु १ वी. २४६९

१०६ प्राय प्रत्येक मनुष्य यह चाहता है कि हमारा कल्याण हो। यह तो सर्वसम्मत है, परन्तु इसमें उस जीव का जो यह अभिमान है कि जो हमारे मुखसे निकल गया। वही ब्रह्मवाक्य है, कल्याण का घातक विष है। इसी से अभीष्ट को चाहने पर जीव अभीष्ट से दूर रहता है। वास्तव में जो निरभिमान पूर्वक प्रवृत्ति होगी वह आत्मकल्याण की जननी है।

चैत्र कृ २ वी . २४६९

१०७. मनुष्य वही प्रशस्त और उत्तम है जो आत्मीय वस्तु

पर निज सत्ता रक्खे। जो वस्तु में निजत्व मानते हैं वे ही इस संसार के पात्र हैं, और नाना प्रकार की वेदनाओं के भी पात्र होते हैं। तथा अन्य जीवों को भी संसार के पात्र बनाते हैं।

चैत्र शु. १ वी. २४६९

१०८. जिसने अपनी प्रभुता को नहीं सम्भाला वह संसार मे दीन होकर रहता है, घर घर का भिखारी रहता है। अपनी शक्ति के आधार से ही अपनी सत्ता है उसका दुरुपयोग करना अपना घात करना है। अनन्त बल का धारी आत्मा भी पराधीन होकर दुर्गति का पात्र बनता है पराधीनता किसी भी हालत में सुखकारी नही इसके वशीभूत होकर यह जीव नाना गतियों में नाना दुर्गति का पात्र होता है।

चैत्र शु. १५ वी. २४६९

१०९. अपने आप अपनी सहायता करो, पर की आशा करना कायरों की प्रकृति है! पर के सहाय से सदा दीन बनना पड़ता है, और दीनता ही संसार की जननी है।

वैशाख कृ. ५ वी. २४६९

११०. जो स्वच्छ मनमें आवे उसे कहने मे सङ्कोच मत करो, २. किसी से राग द्वेष मत करो; ३. राग द्वेष के आवेग में आकर अन्यथा प्रलाप मत करो, यही आत्मा के सुधार को मुख्य शिक्षा है।

अषाढ़ शु. १२ वी. २४६९

१११. संसार की दशा जो है वही रहेगी, इसको देखकर उपेक्षा करना चाहिये। केवल स्वात्मगुण और दोषों को देखो और उन्हें देखकर गुण को ग्रहण करो और दोषों को त्यागो।

श्रावण कृ. १ वी. २४६९

११२. वह कार्य करो जो आत्मा को उत्तरकाल और वर्त्तमान में भी सुखकर हो। जिस कार्य के करने में सङ्कोच की प्रचुरता हो वह कार्य कदापि उत्तरकाल में हितकर नहीं हो सकता। ऐसे भाव कदापि न करो जिनके द्वारा आत्मा का अधःपात हो, अधःपात का कारण असक्त प्रवृत्ति है। जब मनुष्य अधम काम करने में आत्मीय भावों को लगा देता है तब उसकी गणना मनुष्यों में न होकर पशुओं में होने लगती है। अतः जिन्हें पशु सदृश प्रवृत्ति कर मनुष्य जाति का गौरव मिला है—वे मनुष्य स्वेच्छाचारी होकर संसार में इतस्ततः पशुवत् व्यवहार भले ही करें पर उनसे मनुष्य जाति का उपकार नहीं हो सकता।

भाद्रपद कृ. ५ वी. २४६९

११३. जो मनुष्य ससार को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते है वे अपने आत्मा को संसारगर्त मे डालने का प्रयत्न करते हैं और जो अपनी परिणिति को स्वच्छ बनाने का उपाय करते हैं वे हो सच्चे शूर हैं। संसार मे अन्य पर विजय पाने में उतना क्लेश नहीं जितना आत्म विजय करने मे क्लेश है। आत्मा की विजय वही कर सकता है जो अपने मन को पर से रोककर स्थिर करता है।

कार्तिक कृ. ३० वी. २४६९

११४. विशुद्धता ही मोक्ष की प्रथम सीढ़ी है। उसके बिना हमारा जीवन किसी काम का नहीं। जिसने उसका त्यागा वह ससार से पार न हुए, उन्हें यहीं पर भ्रमण करने का अवसर मिलता रहेगा।

कार्तिक शु. १५ वी. २४७०

वर्णी लेखाञ्जलि

संसार

जो परिणाम आत्माको एक जन्म से दूसरा जन्म प्राप्त करावे उसी का नाम संसार है। संसार का मूल कारण मिथ्यादर्शन अर्थात् अनात्मीय पदार्थों में आत्मीय भाव है, जिसके प्रभाव से यह आत्मा अनन्त संसार का पात्र होता है। यद्यपि जीव अमूर्त है और पुद्गल द्रव्य मूर्त्त है फिर भी अपनी अपनी योग्यतावश दोनों का अनादि सम्बन्ध है। परन्तु यहांपर जीवका पुद्गल के साथ जो सम्बन्ध है वह विजातीय दो द्रव्यों का सम्बन्ध है अतः दोनों द्रव्य मिलकर एक रूपता को प्राप्त नहीं होते अपि तु अपने अपने अस्तित्व को रखते हुए बन्ध को प्राप्त होते हैं। यद्यपि दो परमाणुओंका बन्ध होने पर उनमें एक रूप परिणमन हो जाता है इसमें विरोध नहीं। उदाहरणार्थ सुधा और हरिद्रा मिलकर एक लाल रंग रूप परिणमन हो जाता है, क्योंकि दोनों पुद्गल द्रव्य की पर्याय हैं। यह सजातीय द्रव्यों के बन्ध की व्यवस्था है किन्तु विजातीय दो द्रव्य मिलकर एक रूपता को प्राप्त नहीं होते। उदाहरणार्थ जीव और पुद्गल इन दोनों का बन्ध होने पर ये एकक्षेत्रावगाही हो जाते हैं किन्तु एकरूप नहीं होते। जीव अपने विभावरूप हो जाता है और पुद्गल अपने विभावरूप हो जाता है।

संसार दुःखमय है यह प्रायः सभी को मान्य है। चार्वाक

की कथा छोड़िये वह तो परलोक व आत्मा के अस्तित्व को ही नहीं मानता। फिर भी जिस प्रत्यक्ष को मानता है उसमें वह भी स्वीकार करता है कि मनुष्य की सहायता करनी चाहिये क्योंकि यदि हम ऐसा न करेंगे तो जब हमारे ऊपर कोई आपत्ति आवेगी तब हमारी सहायता कोई अन्य व्यक्ति कैसे करेगा? अतः यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि संसार विपत्तिमय है। वे विपत्तियां अनेक हैं और अनेकविध हैं। परन्तु जिसको दुःख बताया है वह भिन्न भिन्न पर्यायों की अपेक्षासे ही बताया है जिसका हमें अनुभव नहीं परन्तु आगम अनुमान और प्रत्यक्ष ज्ञान से हम उसे जानते हैं। आगम में प्राणियों की चार गतियां बतलाई हैं १ तिर्यग्गति, २ नरकगति, ३ मनुष्यगति और ४ देवगति। जीवों को अपने शुभाशुभ परिणामों के अनुसार इन चारों गतियों में अनेक बार जन्म मरण के असह्य दुःखों को सहन करना पड़ता है। जैसे—

तिर्यग्गति—

जब यह जीव निगोद में रहता है तब एक स्वांस में अठारह बार जन्म मरण करता है। उस समय इसके एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है। स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, आयु और स्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते हैं। तीन लोक मे घी के घडे की तरह निगोद भरा हुआ है इस तरह अनन्तकाल तो इसका निगोद में ही जाता है। उसके दुखों को वही जान सकता है। उसके बाद पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि अनेक पर्यायों में जीव जन्म मरण कर जीवन व्यतीत करता है। उसके बाद द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय सम्बन्धी क्रमसे लट, पिपीलिका अलि आदि अनेक भव धारण कर आयु को व्यतीत कर अनेक दुःखों

का पात्र होता है। उसके बाद असैनी पञ्चेन्द्रिय पर्याय धारण कर मन के बिना विविध दुःखों का पात्र होता है। इसके बाद जब संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च होता है और उसमें भी यदि सिंहादि जैसा बलवान पशु होता है तब दूसरे निर्बल प्राणियों को सताता है और आप भी निर्दयी मनुष्यों के द्वारा शिकार किये जाने पर तड़प तड़प कर मरता है। तथा संक्लेश परणामों के कारण नरक गति का पात्र होता है।

नरकगति—

नरकों की वेदना अनुमान से किसी सेभी छिपी नहीं है। लोक में यह देखा जाता है कि जब किसी को असह्य वेदना होती है तब कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति को नरकों जैसी वेदना हो रही है। किसी स्थान के अधिक मैले-कुचैले और दुर्गन्धित देखे जाने पर कहा जाता है कि ऐसे सुन्दर स्थान को नरक बना रखा है। ऐसा कहने का कारण यही है कि वहां की भूमि इतनी दुर्गन्धमय होती है कि यदि वहां का एक कण भी यहां आ जावे तो कोसों के जीवों के प्राण चले जावें। प्यास इतनी लगती है कि समुद्र भर का पानी पी जावे तो भी प्यास न बुझे। भूख इतनी लगती है कि तीनों लोकों का अनाज खा जावे तो भी भूख न जाय परन्तु न पीने को एक बूंद पानी मिलता है और न खाने को एक अन्न का दाना! शीत और गर्मी का तो कहना ही क्या है? गर्मी इतनी पड़ती है कि एक लाख मन का लोहे का गोला वहां की स्वाभाविक गर्मी से ही क्षणमात्र में पिघल कर पानी हो जाय और शीत इतनी पड़ती है कि वही पिघला हुआ लोहे का गोला शीत में पहुँचने पर पुनः गोला हो जाय। न वहाँ जज है न मजिस्ट्रेट, न पुलिस

है न पंचायत, न शासक हैं न शासित, जो कुछ हैं सब नारकी जीव ही हैं इसलिये कुत्तों की तरह केवल परस्पर में लड़ना, राक्षसों की तरह मारपीट करना और दानवों की तरह एक दूसरे के तिल तिल बराबर टुकड़े कर डालना यही उनका दिन रातका काम है। परन्तु मृत्यु ? उनके शरीर के तिल तिल बराबर टुकड़े टुकड़े हो जाने पर भी मृत्यु नहीं होती अपितु टुकड़े टुकड़े इकट्ठे होकर वे पुनः उठ खड़े होते हैं। मृत्यु तभी होती है जब नरकायु पूर्ण हो जाती है। इन अनेक वेदनाओं को सहने के बाद कभी जब सौभाग्य होता है तब मनुष्य पर्याय प्राप्त होती है !

मनुष्यगति—

यह प्रत्यक्ष है कि मनुष्यगति सभी गतियों से अच्छी है, परन्तु सच्चा सुख जिसे कहना चाहिये वह यहाँ भी प्राप्त नहीं होता है। माता के गर्भ में पिता के वीर्य और माता के रज से शरीर की उत्पत्ति होती है। गर्भ में नौ मास तक किस प्रकार के कितने कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं, इसका पूर्ण अनुभव उसी समय वही जीव कर सकता है जो गर्भाशय में रहता है। बाल्य अवस्था के दुःख कुछ कम नहीं हैं। माता-पिता भले ही अपनी शक्तिभर उसे लाड़-प्यार करें, परन्तु उसके भी दुःखों का अन्त नहीं होता। पलने में पड़ा-पड़ा भूख-प्यास या शरीर जन्य वेदनाओं से तिलमिला उठता है, रोता और चिल्लाता है, रोने के सिवा और कोई उपाय नहीं। वह तो इसलिये रो रहा है— "माँ! मुझे दूध पिला दे" परन्तु माँ उसे पलना झुला देती है और गाती है—"सो जा बारे वीर!" और जब बालक सोना चाहता है तब माँ उसे दूध पिलाना चाहती है, कैसी आपत्ति

है ! माँ गृह-कार्य में व्यस्त होती है, बालक के कपड़े मलमूत्र से गन्दे हो जाते हैं। बालक सूखे और साफ कपड़े चाहता है, परन्तु वे समय पर नहीं मिलते। कैसी परतन्त्रता है !

स्त्री पर्याय के अनुसार यदि कन्या हुई तो कहना ही क्या है ? उसके दुःखों को पूछनेवाला ही कौन है ? जन्म समय "कन्या" सुनते ही माँ-बाप और कुटुम्बीजन अपने ऊपर सजीव ऋण समझने लगते हैं। युवावस्था होने पर जिसके हाथ माता पिता सौंप दें गाय की तरह चला जाना पड़ता है। कन्या सुन्दर हो वर कुरूप हो, कन्या सुशील और शिक्षित हो वर दुःशील और अशिक्षित हो, कन्या धन सम्पन्न और वर गरीब हो कोई भी इस विषमता पर पूर्ण ध्यान नहीं देता ! लड़की को घर का कूड़ा कचड़ा समझ कर जितना शीघ्र हो सके घर से बाहर करने की सोचता है ! कैसा अन्याय है ! यदि पुरुष हुआ तो भी कुशलता नही। विवाह क्या होता है मनुष्य से चतुष्पद (चौपाया) हो जाता है। एक दूसरी ही कुल देवी का शासन शिरोधार्य करना पड़ता है ! घूँघट माता के आज्ञा पालन में मदारी के बन्दर की तरह नाचना पड़ता है ! विषयाशा की ज्वाला में रात दिन जलते जलते बहुत दिन बाद भी जब कभी सन्तति न हुई तब सासु बहू को कुलक्षणा और और कुल कलङ्किनी कहती है, पति स्त्री को फूटी आँख से भी नही देखना चाहता ! इस तरह बेचारी बहू को माँगे भी मौत नहीं मिलती। यदि सन्तति हुई और बालिका हुई तब भी कुशल नहीं, कहते हैं पूर्व भव का सजीव पाप शिर पर आ पड़ा ! यदि बालक हुआ और दुराचारी निकल गया तब कुल कलङ्की ठहरा ! पिता की षट्पद (छह पैरवाला–भौंरा) संज्ञा हो गई, कुटुम्ब पालन के लिए भौंरे की तरह इधर-उधर दौड़ता

है और जब दूसरी सन्तति हो गई तब अष्टापद् (आठ पैर वाला–मकड़ी) संज्ञा हो गई कुटुम्ब के भरण-पोषण के लिए मकड़ी के जाल की तरह संसार जाल में फँस जाता है, न आत्मोन्नति की बात सोच सकता है, न परोन्नति की चेष्टा कर सकता है। सांसारिक जाल का कैसा विकट बन्धन है !

वृद्धावस्था तो एक ऐसी अवस्था है जिसमें जीवित भी व्यक्ति मरे से गया बीता हो जाता है। हाथ पैर आदि सभी आङ्गोपाङ्ग शिथिल हो जाते हैं। तीर्थाटन की इच्छा होती है पर चला नहीं जाता, सुस्वादुभोजन करना चाहता है परन्तु दाँत भंग हो जाने से जिह्वा साथ नहीं देती, सुगन्धित फूलों की गन्ध लेना चाहता है पर घ्राणेन्द्रिय सहायता नहीं करती, उत्तम रूप सुन्दर दृश्य देखना चाहता है पर आँखों से दिखता नहीं, उल्लासक गायन वादन सुनना चाहता है परन्तु कान बहिरे हो जाते हैं इसलिए साधारण या अपने लिये आवश्यक कार्य की भी बात नहीं सुन पाता। हाथ कांपते हैं, पैर लड़खड़ाते हैं, लाठी के बल चलते हैं। रास्ता पूछते मुँह से लार टपकती है, वचन स्पष्ट नहीं निकलते, आगे बढ़ते हैं आँखों से दिखता नहीं दीवाल से टकरा जाते हैं। "बाबा जी लाठी के इस हाथ चलो" रास्ता बताया जाता है, कानों से सुनाई नहीं देता, बाबा जी लाठी के उस हाथ चलते हैं; गड्ढे में गिर जाते हैं। घर कुटुम्ब ही नहीं पुरा पड़ोस के भी लोग बाबा जी के मरने की माला टारते हैं कैसा अनादर है !

यदि मन्दकषाय से मरण हुआ, तब देवायु के बन्ध से देवगति को प्राप्त करता है।

देवगति—

एक व्यक्ति जब अनेक संकट या कष्ट सहने के बाद निर्द्वन्द्व

स्वच्छन्द आनन्द को प्राप्त कर लेता है तब उसे अनुभव होता है, वह सहसा कह भी उठता है—"अब तो मैं स्वर्गीय सुख पा गया।" धनिकों के ठाट-बाट को, सुख साधक सामग्रियों एवं भव्य-भवनों को देखकर लोग कहा करते हैं—"सेठ सा० को क्या चाहिये स्वर्गों जैसा सुख है।" यह लोक व्यवहार हमारे अनुमान में सहायता करता है कि वास्तव में स्वर्गों में ऐसी निर्द्वन्द्वता, स्वच्छन्दता और आनन्द होगा। ऐहिक सुखों से जहाँ तक सम्बन्ध है स्वर्गों का ठाट-बाट और स्वच्छन्द सुख के सम्बन्ध में अनुमान ठीक है परन्तु वास्तविक सुखों से-पारलौकिक सुखों से जहाँ सम्बन्ध है वहाँ आगम कहता है—"जिस देव पर्याय को तुम सुखों का खजाना समझते हो वह नुकीले घास पर ओस की बूँदों को मोती समझना है। भवनवासी व्यन्तेर और जोतिष्क जाति के देवों में निरन्तर परिणामों की निर्मलता भी नहीं रहती, यदि विमानवासी क्षुद्र देव हुआ तब महान् पुण्यशाली देवों का वैभव देख संक्लेशित रहता है। बड़ा देव हुआ तब निरन्तर सुख की सामग्री के भोगने में आकुलित रहता है। देवायु जब पूर्ण होती दिखती है तब उन सुखों की सामग्री को अपने से बिछुड़ता देख इतना संक्लेशित होता है जिससे सद्गति का बन्ध न होकर पुनः उन निगोदादि दुर्गतियों का पात्र होता है।

इस प्रकार संसार में चारों गति दुःखमय है, कहीं भी सुख नहीं है। इन सभी दुःखों का हमें प्रत्यक्ष नहीं और जब तक किसी का प्रत्यक्ष अनुभव न हो तब तक उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति नहीं हो सकती, ऐसा नियम है। इष्ट को जानकर उसके उपाय में मनुष्यों की प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार अनिष्ट को जानकर उसके जो कारण हैं उनमें प्रवृत्ति नहीं करने की चेष्टा होती है।

यदि कोई ऐसी आशङ्का करे कि मोक्ष तो प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं, फिर मनुष्य मोक्ष के उपायों मे क्यों प्रवृत्ति करता है ? तो उसकी ऐसी आशङ्का करना ठीक नहीं, क्योंकि मोक्ष भले ही प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय न हो परन्तु अनुभव और आगम का विषय तो है ही। हम देखते हैं कि लोक में आशादि की निवृत्ति होने से हमे सुख होता है, तब जहां सब निवृत्ति हो गई हो वहां तो स्थायी सुख होगा ही। इस प्रकार इस अनुमान से मोक्ष सुख का ज्ञान हो जाता है और इसी से मोक्ष के उपायों में मुमुक्षुवर्ग की प्रवृत्ति देखी जाती है। इसी तरह चतुर्गति के जीवों के दुःख तथा अतीत काल में हमको जो दुःख हुए उनका प्रत्यक्ष तो है नहीं, अतः उनके निवारण का प्रयत्न हम क्यों करें ? यह आशङ्का भी ठीक नहीं। अतीत काल के दुःखों की कथा छोड़ो, वर्तमान में जो दुःख हैं उन पर दृष्टिपात करो।

सुख और दुःख व उसके कारण—

नैयायिकों ने दुःख का लक्षण—"प्रतिकूल वेदनीय दुःखम्" माना है और जैनाचार्यों ने–"आकुलता–एक तरह की व्यग्रता को दुःख" कहा है। आकुलता की उत्पत्ति में मूल कारण इच्छा है और इच्छा की उत्पति क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुवेद और नपुंसकवेद से होती है। अर्थात् जब इस जीव के क्रोधकषाय की उत्पत्ति होती है तब इसके अनिष्ठ करने, मारने और ताड़ने के भाव होते हैं, जब मान कषाय का आविर्भाव होता है तब पर को नीचा और अपने को ऊँचा दिखाने का भाव होता है। जब तक यह पर का अनिष्ट न कर ले या पर को ताड़नादि न कर ले तब तक इसे शान्ति नहीं मिलती। तत्त्वदृष्टि से विचार करने पर पर को

कष्ट पहुँचाने से कुछ नहीं मिलता, परन्तु जब तक ऐसा नहीं कर पाता तब तक उस कषाय की शान्ति नहीं होती। यही दुःख है। अथवा पर को नीचा दिखाना और अपने को उच्च मान लेना, इससे इसे कुछ लाभ नहीं। परन्तु जब तक ऐसा नहीं कर लेता तब तक इसे शान्ति नहीं। जिस काल में इसनें अपनी इच्छा के अनुकूल ताड़नादि क्रिया कर ली या पर को नीचा दिखाने का प्रयत्न सिद्ध हो गया, उस काल में यह जीव अपने को शान्त मान लेता है, सुखी हो जाता है। यहां पर यह विचारणीय है कि जो सुख हुआ वह दूसरों को ताड़ने या नीचा दिखाने से नहीं हुआ, अपि तु ताड़ने या नीचा दिखाने की जो इच्छा थी वह शान्त हो गई, इसी से वह हुआ। इससे सिद्ध है कि इच्छा मात्र का सद्भाव दुःख का कारण है और इच्छा का अभाव सुख का कारण है।

दुःख का कारण मोह—

मनुष्य पर्याय बहुमूल्यवान वस्तु है, इसे यों ही न खोना चाहिये। जिस समय हमारी आत्मा में असाता का उदय आता है उसी समय हम मोहवश दुःख का वेदन करते हैं। केवल असाता का उदय कुछ कार्यकारी नहीं, उसके साथ में यदि अरति आदि कषाय का उदय न हो तब असातोदय कुछ नहीं कर सकता। सुकुमाल स्वामी के तीव्र असातोदय में जन्मान्तर की वैरिणी स्यालिनी व उसके दो बालकों ने उनके शरीर को पञ्जों द्वारा विदारण कर तीन दिन तक रुधिर पान किया, परन्तु उनके अन्तरङ्ग में मोह की कृशता होने से उपशमश्रेणी आरोहण कर वे सर्वार्थसिद्धि को गये। अतः दुःख-वेदन में मूलकारण मोहनीय कर्म का उदय है। यद्यपि कर्म जड़ हैं, वे

न तो आत्मा का भला ही कर सकते हैं और न बुरा ही कर सकते हैं। परन्तु जब उनका उदयकाल आता है तब आत्मा स्वयमेव रागादि रूप परिणम जाता है, इतना ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। जैसे—जब मोह का विपाक होता है अर्थात् जब मोहनीय कर्म फल देने में समर्थ होता है उस काल में आत्मा स्वयं रागादि रूप परिणम जाता है, कोई परिणमन करानेवाला नहीं है। यही नियम सर्वत्र है, जैसे—कुम्भकार घट को बनाता है, यहां भी यही प्रक्रिया है। अर्थात् कुम्भकार का व्यापार कुम्भकार में है, दण्डादि का व्यापार दण्डादि मे है और मृत्तिका का व्यापार मृत्तिका में है। वास्तव में कुम्भकार अपने योग व उपयोग का कर्ता है किन्तु उनका निमित्त पाकर दण्डादि में व्यापार होता है, अनन्तर मृत्तिका की प्रागवस्था का अभाव होकर घट बन जाता है। ऐसा सिद्धान्त है कि—

"यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तत्कर्म।"

इस सिद्धान्त के अनुसार घटका कर्ता न तो कुम्भकार है और न ही दण्डादि हैं किन्तु मृतिका कर्ता है और घट कर्म है। परिणाम परिणामी भाव की अपेक्षा मृतिका और घट में कर्तृकर्म भाव तथा व्याप्यव्यापक भाव है। निमित्त नैमित्तिक भाव की अपेक्षा कुम्भकार कर्ता और घट कर्म है। यही व्यवस्था सर्वत्र है। इसी प्रकार आत्मा में जो रागादि परिणाम होते हैं उनका परिणामी द्रव्य आत्मा है, अतः आत्मा कर्ता है और रागादि भाव कर्म हैं। इसी प्रकार आत्मामें वर्तमान में रागादि द्वारा जो अकुशलता रूप परिणाम होता है आत्मा उसका कर्ता है और रागादिक कर्म हैं। इस प्रकार रागादि परिणाम और परिणामी आत्मा इन दोनोंका परस्पर कर्तृकर्मभाव है।

मोक्ष—

जैसा कि पहले बतला आये हैं कि रागादिक द्वारा हमारी आत्मा में जो आकुलता होती है उसी का नाम दुःख है। उस दुःख को कोई नहीं चाहता परन्तु जब यह दुःख रूप अवस्था होती है उस समय हम व्याकुल रहते है किसी भी विषय में उपयोग नहीं लगता, चित्त यही चाहता है कि कब यह संकट टले। इसका अर्थ यही है कि यह विषय ज्ञान में न आवे परन्तु मोही जीव पर्याय-दृष्टिवाले हैं उनसे यह होना असम्भव है। यदि इष्ट वियोग हो गया तब वही ज्ञान का विषय होता है। विषय होना मात्र दुःख का कारण नहीं उसके साथ जो मोह का सम्बन्ध है वही दुःख का कारण है। बाह्य वस्तु का वियोग न तो दुःख का कारण है और न उसका सयोग सुख का कारण है। केवल कल्पना से ही सुख और दुःख मान लेता है। अतः सुख और दुःख आप ही परमार्थ से दुःख-रूप हैं। जिस वस्तु के संयोग से हमें हर्ष होता है उसे हम सुख का कारण मान लेते हैं और उसी वस्तु के वियोग से दुःख मान लेते हैं, तथा जिस वस्तु के संयोग से चित्तमें विकार होता है उसे हम दुःख का कारण मान लेते हैं और उसी वस्तु के वियोग से सुख मान लेते हैं। यह काल्पनिक मान्यता हमारे मोहोदय से होती है वस्तु न सुखदाई है और न दुःखदाई है क्योंकि जिस वस्तु के संयोग से हम सुख होना मानते हैं उसी वस्तुका संयोग दूसरों को दुःख दायी होता है। अतः सिद्ध है कि पदार्थ सुखदाई या दुःखदाई नहीं अपि तु हमारी कल्पना ही सुखदाई और दुःखदाई है। इसलिये पदार्थों को इष्टानिष्ट मानना मिथ्या है। हमें आत्मीय परणति में जो मिथ्या कल्पना है उसे त्याग देना आवश्यक है। जिस दिन हमारी मान्यता इन विकल्पों से मुक्त

हो जावेगी, अनायास तज्जन्य दुःखों से छूट जावेगी। इसी का नाम मोक्ष है।

मोक्ष प्राप्ति में प्रबल साधक कारण १ सम्यग्दर्शन २ सम्यग्ज्ञान और ३ सम्यक् चारित्र हैं। इनके पहिले दर्शन ज्ञान और चारित्र की जो अवस्था होती है उसे १ मिथ्यादर्शन २ मिथ्या ज्ञान और ३ मिथ्याचारित्र कहते हैं। यही तीन कारण मोक्ष के सबसे सबल बाधक हैं।

मिथ्यादर्शन—

मुक्ति का अर्थ है छूटना, अर्थात् मिथ्यात्व के उदय में आत्मा पर पदार्थों में आत्मीयता की कल्पना करता है, उन्हें आत्मस्वरूप मानता है। यद्यपि वे आत्म स्वरूप नहीं होते परन्तु इसको तो यह प्रतीत होता है कि ये हम ही हैं जैसे जब अन्धकार में रस्सी में सर्प का ज्ञान होता है तब इसके ज्ञान में साक्षात्सर्प ही दीखता है। और इसके अन्तरङ्ग में भय प्रकृति की सत्ता है अतः भयभीत होकर भागने की चेष्टा करता है। वास्तव में रस्सी सर्प नहीं हुई और न ज्ञान में सर्प है फिर भी जिस काल में यह ज्ञान हो रहा है उस काल में ज्ञान का परिणमन ज्ञानरूप होकर भी सर्प जैसा भान हो रहा है इसी से ये सभी उपद्रव हो रहे हैं। जब यह भेद विज्ञान हो जाय कि मुझे जो सर्प ज्ञान हो रहा है वह मिथ्या है तब उसका भय एकदम पलायमान हो जाता है। मिथ्या ज्ञानका अभाव ही भय के दूर होने का कारण है।

मिथ्याज्ञान—

इस तरह जीवके दुःखका कारण मिथ्याज्ञान है। अर्थात्

यह जीव शरीर को आत्मा मानता है और शरीर की नाना अवस्थाओं को अपनी अवस्थाएँ मानता है। उन अवस्थाओं में जो इसके कषायके अनुकूल अवस्था होती है उससे हर्ष मानता है और जो उसके कषाय के प्रतिकूल अवस्था होती है उससे विषाद मानता है। यही मिथ्या ज्ञान है और यही संसार के सुख दुःख का कारण है अतः जिनको संसार दुःखमय भासता है वे इन कषायों से भय करने लगते हैं तथा प्रत्येक कार्य में कषाय की निवृत्ति करने की चेष्टा करते है। पञ्चेन्द्रियों के विषय सेवन करने में भी उनका लक्ष्य कषाय निवृत्तिका रहता है। जब राग सुनने की इच्छा होती है तब राग सुनने की इच्छा से आत्मा में एक प्रकार की हलचल हो जाती है उसे दूर करने के लिये ही यह प्रयत्न करता है। इसी तरह और भी जो इच्छा आत्मा मे बेचैनी का कारण हो वह कालान्तर में चाहे बुद्धि में न आवे उसके अभाव या दूर करने का प्रयत्न करता है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि विषय सेवन करते हुए भी उनमें आसक्त नहीं होता। आसक्ति के अभाव से ही उसके बन्धका अभाव कहा है। बन्ध न होता हो यह बात नहीं है, बन्ध तो होता है परन्तु जो बन्ध अनन्त संसार का कारण होता है वह नहीं होता, क्योंकि संसार का कारण मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय है। उसका उसके अभाव है। माना कि अनन्तानुबन्धी चारित्र मोहनीय प्रकृति है। वह स्वरूपाचरण की घातक है। परन्तु जब मिथ्यात्वके साथ इसका सत्त्व रहता है तब यह सम्यक्त्व-गुणको भी नहीं होने देती। इसीसे जब सम्यग्दर्शन होता है तब मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी चारों कषायों का उदय नहीं होता। सम्यग्दर्शनके होने पर यह आत्मा परको निज मानने के

अभिप्रायसे मुक्त हो जाता है। जब तक जीवके मिथ्यात्व रहता है तब तक इसका ज्ञान मिथ्या रहता है और जब मिथ्याज्ञान रहता है तब पर को निज मानता है। अर्थात् तब इसके स्वपर का विवेक नहीं होता।

मिथ्याचारित्र

इसी मिथ्याज्ञान के बल से पर मे ही इसकी प्रवृत्ति होती है। इसी का नाम मिथ्याचारित्र है। अर्थात् मिथ्यादर्शन के बल से ही पर में निजत्व की कल्पना होती है और उसी में प्रवृत्ति करता है। कहां तक कहें स्त्री पुत्रादि में निजत्व की कल्पना तो होती ही है, अर्हन्तदेव निर्ग्रन्थ गुरु और द्वादशांग शास्त्र को भी अपने मानने लगता है। हमारा धर्म हमारे गुरु और हमारा आगम इस तरह निजत्व की कल्पना करता है। जो अपने अनुकूल हुए अथवा जिनके साथ रोटी बेटीका व्यवहार होता है उन्हें अपनी जाति मान लेता है। इसके अतिरिक्त जो शेष बचते है उन्हें कह देता है "आपको मन्दिर आने का अधिकार नहीं, आप पूजन नहीं कर सकते, आप मूर्ति का स्पर्श नहीं कर सकते, आप जहां पर प्रतिबिम्ब विराजमान हैं वहां नहीं जा सकते। आप दस्सा हो गये, आप मोक्षमार्ग का साधन हमारे मन्दिर में नहीं कर सकते ! आपका हम पानी नहीं पी सकते क्योंकि आप जातिच्युत हैं, बड़े भाग्य से शुद्धता मिलती है। यदि आपको दर्शन करना हो तो करलो अन्यथा चले जाओ।" यदि नया लहुरसेन (दस्सा) हुआ तब कह देता है—"जाओ ! अभी तुम दर्शन करने के पात्र नहीं। जब तुम अपनी जाति में मिल जाओगे तब हमारे मन्दिर में आ सकते हो।" यदि कोई पूछ बैठे—"मन्दिर में माली को क्यों आने

देते हो ?" तब उत्तर मिलता है—"वह हमारी जातिका नहीं, आप तो हमारी जाति के हैं, पतित हो गये हो। आप किसी को दान नहीं दे सकते चाहे मुनि हो चाहे त्यागी हो। आप हस्त-लिखित शास्त्रोंका उपयोग नहीं कर सकते।" जो मन में आता है सो बोलता है—"स्त्री वर्ग को पूजन करनेका अधिकार है परन्तु वह वह मूर्तिका स्पर्श नहीं कर सकती क्योंकि उसके निरन्तर शङ्का रहती है, आदि।" जहां अपने सजातीय वर्गको यह दशा है वहां शूद्रों की क्या कथा ? उनके मन्दिर प्रवेश की बात तो अभी जैनियों मे दूर है ! यद्यपि यह कल्पना आगमोक्त नहीं परन्तु मिथ्यात्व के उदय मे जो जो अनर्थ न हों सब थोड़े हैं।

मोक्ष प्राप्ति में उच्चगति आवश्यक नहीं—

आगम तो यहकहता है—"चारों ही गति में संसार का नाशक सम्यग्दर्शन होता है, तिर्यग्गति में देशसंयम होता है। मनुष्यगति में सकलसंयम होता है। क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति और तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर्मभूमि के मनुष्यों के होता है। वहां यह नहीं लिखा—"अमुक गति, अमुक वर्ण अमुक जाति या अमुक वर्ग वर्णवाला ही इसका अधिकारी है। अपि तु महान् पापोपार्जन करके भी जीव क्षायिक सम्यग्दर्शन और तीर्थङ्कर प्रकृति का अधिकारी हो सकता है।" राजा श्रेणिक ने मुनि निन्दा से नरकायु का बन्ध कर लिया था फिर भी क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध किया। बहुत से जीव उत्तमकुल में हुए परन्तु पाप करके वे नरक चले गये और जिन्हें आप नीच कुलवाले समझते हैं वे धर्म करके उत्तमगति में चले गये। जिन्हें आप नीच गोत्रवाले तिर्यञ्च कहते हैं वे जीव भी धर्म के प्रसाद

से उच्चगति में चले गये। महान् हिंसक से हिंसक शूकर, सिंह, नकुल, वानर भोगभूमि में चले गये। वहाँ सम्यग्दर्शन प्राप्त कर स्वर्ग गये। कई भव में भगवान् आदिनाथ स्वामीके पुत्र हुए। तथा नरक गतिवाले जीव जिनके निरन्तर असाता का उदय व क्षेत्र जनित वेदना से निरन्तर संक्लेश परिणाम रहते हैं वे जीव भी किसी के उपदेश बिना ही स्वयमेव परिणामों की निर्मलता से सम्यग्दर्शन के पात्र होते हैं। परिणामों की निर्मलता से आसाता आदि प्रकृतियां कुछ भी विघात नहीं कर सकतीं।

मोक्षके लिये जाति और कुल आवश्यक नहीं—

नरकों मे नाना प्रकार की तीव्र वेदना है परन्तु वहां भी जीव तीसरे नरक तक तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध कर रहे हैं। इससे सिद्ध होता है कि नीच गोत्र में भी तीर्थङ्कर प्रकृति बँधती रहती है। परिणामों के साथ मोक्ष मार्ग का सम्बन्ध है, बाह्य कारणों से उसका कुछ भी विघात नहीं होता अतः जो जाति अभिमान से परका तिरस्कार करते हैं वे धर्म का मार्मिक स्वरूप ही नहीं समझते। श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा है—"जिनको जाति और कुलका अभिमान है वे मोक्षमार्ग से परे हैं।" यथा—

येऽप्येवं वदन्ति यद्वर्णानां ब्राह्मणो गुरुरतः स एव परमपद-योग्यः तेऽपिनमुक्ति योग्याः।" यतश्च—

> जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भवः।
> न मुच्यन्ते भवात्तस्मात् ते ये जातिकृताग्रहाः॥"

अर्थात् "वर्णों में ब्राह्मण गुरु है, महान् है, पूज्य है इस लिये वही मुक्ति योग्य है" ऐसा जो कहते हैं वे भी मुक्ति के पात्र नहीं। क्योंकि ब्राह्मणत्व आदि जो जातियां है वे देह के आश्रय

देखी गई है और शरीर जो है वह आत्मा का संसार है। इस-लिये जो जीव मुक्ति के लिये जाति का आग्रह मान रहे हैं वे संसार से नहीं छूट सकते।" न तो जाति बन्ध का कारण है और न मुक्ति का कारण है, क्योंकि जाति का होना पर-द्रव्या-धीन है।

मोक्ष के लिये जाति या वेष आवश्यक नहीं—

"ब्राह्मणत्व जाति-मोक्ष का मार्ग न हो, किन्तु ब्राह्मणत्व जाति-विशिष्ट जीव निर्वाण दीक्षा के द्वारा दीक्षित होने पर मुक्ति को प्राप्त कर लेता है" ऐसा जो कहते हैं उनके प्रति पूज्य-पाद स्वामी का कहना है—

"जातिलिङ्गविकल्पेन येषां च समयाग्रहः।
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः॥"

अर्थात् जाति और वेष के विकल्प से मुक्ति मानने वाले जो लोग कहते हैं कि ब्राह्मणत्व जाति विशिष्ट होने के बाद जब दैगम्बरी दीक्षा धारण करेगा तभी मुक्ति का पात्र होगा। वे मनुष्य भी परम पद को प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि जाति और वेष पराश्रित हैं। वे मोक्ष-प्राप्ति में साधक-बाधक नहीं। एकमात्र आत्माश्रित भाव ही मोक्ष का कारण हो सकता है। श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार में लिखा है—

"पासंडी लिङ्गाणि व गिहिलिङ्गाणि व बहुप्पयाराणि।
घित्तुं वदंति मूढा लिङ्गमिणं मोक्खमग्गो त्ति।
ण उ होदि मोक्खमग्गो लिङ्गं जं देहणिम्ममा अरिहा।
लिङ्गं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि से यंति॥"

पाखण्डी लिङ्ग अथवा गृहस्थ लिङ्ग, ये बाह्य लिङ्ग हैं जो बहुत प्रकार के हैं। उन्हें ग्रहण कर मूढ लोग मानते हैं कि यह

लिङ्ग मोक्ष-मार्ग है। किन्तु विचार करने पर मालूम पड़ता है कि कोई भी बाह्य लिङ्ग मोक्ष का मार्ग नहीं है। यदि बाह्य लिङ्ग मोक्ष का मार्ग होता तो अरहन्त भगवान् देह से निर्मम न होते और लिङ्ग को छोड़कर दर्शन, ज्ञान और चारित्र का सेवन नहीं करते। माना कि बहुत से अज्ञानी जन द्रव्य लिङ्ग को ही मोक्ष-मार्ग मानते हैं और मोह-पिशाच के वशीभूत होकर द्रव्य-लिङ्ग को स्वीकार करते हैं परः उनका ऐसा मानना और मोह-पिशाच के वशीभूत होकर द्रव्य-लिङ्ग को स्वीकार करना ठीक नहीं है, क्योंकि इससे संसार की ही वृद्धि होती है। जिनदेव ने तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र को ही मोक्ष-मार्ग कहा है, द्रव्य-लिङ्ग को नहीं, क्योंकि वह शरीराश्रित होता है। सच तो यह है कि जो मोक्षाभिलाषी जीव हैं उन्हें सागार और अनगार लिङ्ग से ममता का त्याग कर दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप जो मोक्ष-मार्ग है उसमें ही अपनी आत्मा को स्थापित करना चाहिये। श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने सर्वविशुद्धि अधिकार में कहा है—

"मोक्खपदे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥"

आशय यह है कि अभेद रत्नत्रय रूप इस मोक्ष-मार्ग में ही अपनी आत्मा को स्थापित कर, उसी का ध्यान कर, उसी को अनुभवन कर और उसी में निरन्तर विहार कर अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।

यह जीव अनादि काल से अपनी ही प्रज्ञा के दोष से राग, द्वेषवश परद्रव्यों में अपनी आत्मा को स्थापित किये हुए है, इसलिए अपने प्रज्ञा के गुण द्वारा उसे वहाँ से हटाकर दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थापित करना चाहिये। इसी प्रकार इस

जीव का निरन्तर पर-पदार्थों में चित्त जाता रहता है और कषाय के वशीभूत होकर नाना प्रकार के विकल्प होते रहते हैं तथा उन विकल्पों के विषयभूत पदार्थों में इष्टानिष्ट कल्पना होती है। अतः उन सबसे चित्त को हटाकर उसे एक ज्ञेय में स्थिर करना चाहिये। यद्यपि जिसके आर्त और रौद्र ध्यान है वह भी एक ज्ञेय में चित्त को स्थिर कर लेता है। वह भी जिसे इष्ट और प्रिय मानता है उसे अपनाता है या उसमें तन्मय हो जाता है और जिसे अप्रिय और अनिष्ट मानता है उसे दूर करने के लिये नाना प्रकार के प्रयत्न करता है। किन्तु यहाँ ऐसी चित्त की एकाग्रता विवक्षित है जिसमें राग-द्वेष का लेश न हो। ज्ञेय में रागादि रूप कल्पना न हो इस प्रकार चित्त को ज्ञेय में स्थिर करना चाहिये, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। इसी प्रकार यह जीव निरन्तर कर्म चेतना और कर्मफल चेतना के वशीभूत हो रहा है अतः अपने चित्त को वहाँ से हटा कर एक ज्ञान चेतना में लगाना चाहिये। यह जीव निरन्तर अज्ञान-वश अन्य पदार्थों में कर्तृत्व बुद्धि और अहं बुद्धि करता रहता है अतः उसे त्याग कर एक ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करना चाहिये। माना कि ज्ञान में ज्ञेयसम्बन्धी नाना प्रकार के विकल्प आते रहते हैं पर उनमें स्वत्व कल्पना न कर अपने आत्मा को ज्ञेय से जुदा अनुभव करना चाहिये। ज्ञेय न तो मिथ्यादृष्टि के ज्ञान में जाता है और न सम्यग्ज्ञानी के ज्ञान में जाता है। ऐसा सिद्धान्त है—

'णाणं ण जादि णेये णेयं ण जादि णाणदेसम्हि।'

केवल यह जीव मोहवश ज्ञेयको अपना मान लेता है अतः उस मान्यता का त्याग कर निजका अनुभवन करना ही श्रेय-स्कर है।

द्रव्यका स्वभाव परिणमनशील है। जब इस जीव के मोहादि कर्मका सम्बन्ध रहता है तब इसकी स्वच्छता विकृत हो जाती है और उस समय यह पर पदार्थों में श्रद्धा, ज्ञान और आचरण तीनों की प्रवृत्ति करता है। इसलिये ये ही तीनों मिथ्या दर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र कहलाते हैं। किन्तु जब इसका मोहादि कर्मों से सम्बन्ध छूट जाता है तब यह अपने स्वभावरूप परिणमन करता है और उसमें तन्मय होकर दर्शन, ज्ञान और चारित्र में ही विहार करता है। इसी बातको ध्यान मे रखकर आचार्य महाराज उपदेश देते हैं कि प्रतिक्षण शुद्ध रूप होकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र में ही विहार करो तथा एकरूप अचल ज्ञान का ही अवलम्बन करो। किन्तु ज्ञान में ज्ञेयरूप से जो अनेक पर द्रव्य भासमान हो रहे हैं उनमें विहार मत करो, क्योंकि मोक्षमार्ग एक ही है और वह सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रात्मक ही है। उसीमें स्थिर होओ, उसीका निरन्तर ध्यान करो, उसीका निरन्तर चिन्तवन करो तथा द्रव्यान्तरको स्पर्श किये बिना उसीमें निरन्तर विहार करो। जो ऐसी प्रवृत्ति करता है वह बहुत ही शीघ्र समय का सारभूत और नित्य ही उदयरूप परमात्मपद का लाभ करता है। किन्तु जो इस संवृत्तिपथ का त्याग कर और द्रव्य लिंग धारण कर तत्त्व ज्ञान से च्युत हो जाता है वह नित्य ही उदय-रूप और स्वभावक प्रभाभार से पूरित समयसार को नहीं प्राप्त कर सकता है। यही श्री समयप्राभृत में कुन्दकुन्ददेवने कहा है—

'पाखंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तं तेहिं ण णायं समयसारं॥'

जो पुरुष पाखण्डी लिंगों में तथा बहुत प्रकार के गृहस्थ लिंगों में ममता धारण करते हैं उन्होंने समयसार को नहीं

जाना है। आशय यह है कि जो पुरुष "मैं श्रमण हूँ और मैं श्रमण का उपासक हूँ" ऐसा मिथ्या अहंकार करते हैं वे एक मात्र अनादि काल से चले आ रहे व्यवहार में ही मूढ़ हैं वास्तव में वे विशद विवेक स्वरूप निश्चय को नहीं प्राप्त हुए हैं। जो ऐसे मनुष्य हैं वे परमार्थ सत्य भगवान् समयसार को नहीं प्राप्त होते। वास्तव में उनकी द्रव्यलिंग के ममकार से अन्तर्दृष्टि तिरोहित हो गई है, इसलिये उन्हें समयसार दिखाई नहीं देता। द्रव्यलिंग पराश्रित है और ज्ञान स्वाश्रित है। इसलिये पराश्रित वस्तु से ममकार और अहंकार भाव का हटा लेना ही श्रेयस्कर है। क्योंकि जो पराधीन होता है वह कदापि सुख का पात्र नहीं होता। यह कौन नहीं जानता कि द्रव्य लिंग शरीराश्रित होता है इसलिये इसके द्वारा आत्मा अपने अभीष्ट पद को भला कैसे प्राप्त कर सकता है? एक ज्ञान ही आत्मा का निज गुण है जो कि स्वाश्रित है, इसलिये सुख का कारण वही हो सकता है। अतः जिन्हें स्वतन्त्र सुख की प्राप्ति इष्ट है उन्हें पराधीन शरीराश्रित लिंग की ममता का त्याग करना चाहिये।

कार्य निष्पत्ति में निमित्त का स्थान

आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। किन्तु अपने जिन विभावरूप परिणामों के कारण यह आत्मा संसार में रुल रहा है वे परिणाम जिस काल में जिस रूप होते हैं उस काल में उनका निमित्त पाकर मोहादि कर्म स्वयमेव वैसे संस्कारवाले होकर आत्मा से सम्बन्ध को प्राप्त हो जाते हैं और जिस काल में वे अपने परिणमन द्वारा स्वयमेव उदय में आते हैं उस काल में उनके निमित्त से आत्मा स्वयमेव रागादिरूप परिणम जाता है। इतना ही विभावपरिणामों का और कर्म का निमित्तनैमि-

सिक सम्बन्ध है। फिर भी जो आत्मा की विविध अवस्थाओं का कर्ता कर्म को मानता है वह अज्ञानी है। कर्म तो अचेतन है। चेतन पदार्थ भी दूसरे का कुछ नहीं कर सकता है। क्योंकि अचेतन का परिणमन अचेतन में होता है और चेतन का परिणमन चेतन मे होता है। अन्य अचेतन पदार्थ बिना ही चेतन परिणामों के स्वयमेव परिणमन करता है और इसी प्रकार चेतन पदार्थ भी विना ही अचेतन पदार्थ के स्वयमेव परिणमन करता है। जैसे जिस समय घटरूप पर्याय प्रकट होती है उस समय कुम्भकार आत्मीय योग और विकल्प का कर्ता होता है। यों तो घट निष्पत्ति में तीन बाते आवश्यक मानी गई है। १—उपादान कारण का प्रत्यक्ष ज्ञान, २—घट बनाने की इच्छा और ३—घट निष्पत्ति के अनुकूल व्यापार। ये तीन तरह के परिणाम कारण है। कुम्भकार को घट के उपादान कारण मृत्तिका द्रव्य का प्रत्यक्ष ज्ञान होना चाहिये, घट बनाने की इच्छा भी होना चाहिये और तदनुकूल प्रयत्न भी होना चाहिये। ये बाते कुम्भकार मे होती है और योग द्वारा उसके आत्मप्रदेश चलायमान होते है। जिसका निमित्त पाकर दण्डादि मे व्यापार हो जाता है और उसके निमित्त से घट बन जाता है। जो कार्य पुरुष के प्रयत्न पूर्वक होते है उनके होने की यह पद्धति है। इसी प्रकार आत्मा मे जो रागादि भाव होते हैं वे मोहोदय-निमित्तिक माने गये है। यहाँ भी पुद्गल कर्म मोह का विपाक मोह कर्म मे ही होता है किन्तु उसी काल में आत्मा मोहरूप परिणम जाता है। कोई दूसरा परिणमन कराने वाला नहीं है। स्वयमेव ऐसा परिणमन हो रहा है। परन्तु इतना अवश्य है कि मोह कर्म के विपाक के बिना ऐसा परिणमन नहीं होता है। इसीसे मोह कर्म के विपाक को रागादि परिणामों के होने में

निमित्त कहा है जगत् में और भी जीव हैं पर उनमें यह परिणमन नहीं होता किन्तु जिस जीव के साथ मोह का बन्ध है उसीमें यह परिणमन होता है। इसी प्रकार धर्मादि चार शुद्ध द्रव्य भी वहाँ पर हैं पर वहाँ भी यह परिणमन नहीं होता। इसका कारण यह है कि उनका यह निमित्त कारण नहीं है।

जगत् मे छह द्रव्य हैं। उनमे धर्मादि चार द्रव्य तो शुद्ध हैं। उनमें द्रव्य के संयोग से कभी भी विपरिणति नहीं होती। जीव और पुद्गल ये दो ही द्रव्य ऐसे हैं जिनमे शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकार परिणमन होता है। बद्ध दशा में अशुद्ध परिणमन होता है और मुक्त दशा में शुद्ध परिणमन होता है। यही कारण है कि जीव और पुद्गल में वैभाविक शक्ति मानी गई है। जब तक अशुद्धता के निमित्त रहते हैं तब तक इसका विभाव परिणमन होता है और निमित्तों के हटते ही स्वभाव परिणमन होने लगता है। पुद्गल मे स्वयं बँधने और छूटने की योग्यता है इसलिये उसका बन्ध अनादि और सादि दोनों प्रकार का होता है किन्तु जीव की स्थिति इससे भिन्न है। उसके रागादि परिणामों के निमित्त से बन्ध होता है और रागादि परिणाम कर्म के निमित्त से होते हैं इसलिये कर्म के साथ इसका बन्ध अनादि माना गया है। इस प्रकार का यह निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध चल रहा है। पर इस निमित्तक सम्बन्ध को देखकर निमित्त पर अवलम्बित रहना उचित नहीं है। यह तो कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध से वस्तु का स्वभाव दिखलाया गया है। वस्तुतः कार्य की उत्पत्ति तो उपादान कारण से होती है निमित्त तो सहकारी मात्र होता है। सहकारी कारण अनेक होते हैं किन्तु उपादान कारण एक होता है। द्रव्य उपादान कारण है और प्रति समय की अवस्था उसका कार्य है। कार्य में जैसा

समय भेद होता है वैसा उपादान मे समय भेद नहीं होता। कार्य उपादान के अनुरूप होता है। जितने कार्य हैं उनकी यही पद्धति है। फिर भी ससार में मोही जीव व्यर्थ ही अन्य का कर्ता बनता है। निमित्त कारण का परिणमन निमित्त मे होता है और उपादान की पर्याय उपादान में होती है। जो अन्य द्रव्य की पर्याय की अपेक्षा निमित्त व्यपदेश को प्राप्त होता है वही अपनी पर्याय की अपेक्षा उपादान भी है। हम लोग इस रहस्य को न समझ कर व्यर्थ के विवाद मे समय बिताते हैं। जब यह निश्चय हो गया कि एक द्रव्य द्रव्यान्तर का कुछ नहीं कर सकता तब जहाँ पर परस्पर सिद्धान्त की चर्चा होती हो और एक सिद्धान्त के विषय में जहाँ दो मत हों वहां चर्चा में परस्पर वैमनस्य नही होना चाहिये चाहे वह किसी के प्रतिकूल ही क्यों न हो। यदि वहाँ किसी एक का यह अभिप्राय हो गया कि मैं इसे अपनी बात मनवा कर ही रहूँगा तब वह "एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता" इस सिद्धान्त से च्युत हो गया। अधिक क्या लिखे। वस्तु की मर्यादा तो जैसी है उसे कोई भी शक्ति अन्यथा नहीं कर सकती। परन्तु मोही जीव मोहवश अन्यथा करना चाहते हैं। यही उनका भ्रम है अतः इसे त्यागना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि यह भ्रम ही संसार का मूल है। जो जीव इस भ्रम के आधीन हैं वे संसरी हैं मिथ्या दृष्टि हैं और जिन्होंने इसे त्याग दिया वे ही मुक्ति के पात्र हैं। आगम में बन्ध के कारण कितने ही क्यों न बतलाये हों मुख्य कारण यह भ्रम ही है। इस भ्रम को बदलने के लिये मूल में श्रद्धा का निर्मल होना जरूरी है। समीचीन श्रद्धा से ही चारित्र में निर्मलता आती है। मेरी तो यह श्रद्धा है कि दर्शन और चारित्र को छोड़कर अन्य सब गुण निर्विकल्प हैं। कोई तो

ऐसा कहते हैं कि ज्ञान गुण को छोड़कर शेष गुण निर्विकल्प हैं पर उनका ऐसा कहना ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि ज्ञान गुण तो प्रकाशक है। उसमें जो पदार्थ जैसा है वैसा प्रतिभासित हो जाता है। श्री कुन्दकुन्द देव ने समय सार में लिखा है—

'उवओगस्स अणाइ परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरय भावो य णायव्वो॥'

उपयोग स्वभाव से सम्पूर्ण पदार्थों के स्वरूप को जानने की स्वच्छता रखता है। जिस समय मोहादि कर्मों का विपाक होता है उस समय दर्शन और चारित्र गुण मिथ्यात्व और रागादि रूप परिणमन को प्राप्त हो जाता है तथा उसका भान ज्ञान गुण में होता है। तब ऐसा मालूम होता है कि 'मैं रागी हूं, द्वेषी हूं, मोही हूँ।' वास्तव में ये परिणमन ज्ञान गुण के नहीं हैं किन्तु दर्शन और चारित्र गुण के हैं। जैसे दर्पण में अग्नि प्रतिभासमान होती है परन्तु दर्पण मे उष्णता व ज्वाला नहीं होती, क्योंकि ये अग्नि के धर्म हैं। दर्पण में जो अग्नि भासमान हो रही है वह सब दर्पण की स्वच्छता का विकार है। इसी तरह आत्मा का ज्ञान गुण स्वपर को जाननेवाला है। जिस समय इस आत्मा में मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होता है उस समय इसका दर्शन गुण यथार्थ परिणमन न कर विपरीत परिणमन करता है। अर्थात् उस समय जीव का अभिप्राय विरूप हो जाता है। अतः उस समय इसके ज्ञान गुण में भी उसका भान होता है। यह कुछ उस रूप नहीं हो जाता है। यह सब व्यवस्था इसी प्रकार चली आ रही है। संसार क्या वस्तु है? यही तो है कि जब यह आत्मा योग और कषाय रूप परिणमता है तब वे कार्मण वर्गणायें जो कि इसके प्रदेशों पर

स्थित हैं ज्ञानावरणादि रूप हो जाती हैं और उनका आत्मा के साथ बन्ध हो जाता है। फिर जब वे कर्म उदय में आते हैं तब इसके रागादि रूप परिणाम होते हैं। इस प्रकार कर्म और रागादि भावों का निन्तर चक्र चालू रहता है। कर्म के उदय से रागादि भाव होतेहैं और रागादि भावों से कर्म का बन्ध होता है। इस प्रकार यह जीव निरन्तर इस संसार चक्र में घूम रहा है जिससे यह निरन्तर सन्तप्त होता है। अतः प्रत्येक प्राणी का यही कर्तव्य है कि वह इसके कारणों का त्याग करे।

निश्चय और व्यवहार

आचार्यों ने निश्चय और व्यवहार का अपनी-अपनी शैली से निरूपण किया है इनके विषय मे मैं न विशेष जानता हूँ और न जानने की इच्छा है। मैं तो यह समझता हूँ कि जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं। उनमें पुद्गल द्रव्य तो इन्द्रिय के द्वारा ज्ञान में आता है और धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य आगम गम्य हैं। हम यहाँ पर दो द्रव्यों की चर्चा करना चाहते हैं जो प्रत्यक्ष है। पुद्गल तो इन्द्रिय जन्म ज्ञान से प्रत्यक्ष है और आत्मा सुख, दुःख, ज्ञानादि गुण के द्वारा जाना जाता है।

आत्म की दो अवस्थाएँ हैं—संसारावस्था और मुक्तावस्था। इनमे से मुक्तावस्था का तो हमको प्रत्यक्ष नहीं किन्तु संसारावस्था का प्रत्यक्ष है। हमे निरन्तर जो रागद्वेषादि विभावों का अनुभव हो रहा है उसी का नाम ससार है।

यद्यपि हमको निरन्तर राग द्वेष का अनुभव होता है परन्तु सर्वथा नहीं। कभी राग द्वेष के अभाव में जो अवस्था होती है उसका भी अनुभव होता है। जैसे कल्पना कीजिये कि हमको रूप देखने की इच्छा हुई और जैसा रूप देखने का हमारा भाव था वैसा ही वह देखने में आया तो उस समय हम शान्ति और सुख में मग्न हो जाते हैं। विचार कीजिये-जो शान्ति हुई

वह रूप देखने से हुई,या रूप विषयक देखने की इच्छा के जाने से हुई ? यदि रूप देखने से हुई तब हमको निरन्तर रूप ही देखते रहना चाहिये सो तो होता नहीं किन्तु हमारी जो रूप विषयक इच्छा थी वह चली गई अतः सुख व शान्ति का कारण इच्छा का अभाव है। इसका कारण न विषय है और न इच्छा ही है। इससे यह सिद्धान्त निकला कि रागादिक परिणाम ही दुःख के कारण हैं और इनका अभाव ही सुख का कारण है। इसलिये जहाँ पर सम्पूर्ण रागादिकों का अभाव हो जाता है वहीं आत्मा को पूर्ण शान्ति मिलती है और उसी अवस्था का नाम मोक्ष है। अतएव जिन्हें मुक्तावस्था की अभिलाषा है उन्हें यही प्रयत्न करना चाहिये कि नवीन रागादि उत्पन्न न हों और जो प्राचीन हों वे रस देकर निर्जर जावे। केवल गल्पवाद से यह हल न होगा। अनादि काल से जो पर पदार्थों को अपनाने को प्रकृति पड़ गई है तथा प्रत्येक के साथ जो व्यवहार मे अभिरुचि रखते हो, पञ्चेन्द्रियों के विषयों में अपनी शक्ति का अपव्यय कर रहे हो, निरन्तर किसी को अनुकूल तथा किसी को प्रतिकूल मानकर संसार के कार्य कर रहे हो, इनसे पीठ दो और शुद्ध जीव द्रव्य का विचार करो अनायास अपने अस्तित्व का परिचय हो जावेगा। जिससे उत्पन्न आनन्द का आप स्वयं अनुभव करोगे।

आज तक यही सोचते आयु बीत गई—"आत्मा क्या पदार्थ है ?" इसके लिये प्रथम तो विद्याभ्यास किया, अनन्तर विद्वानों के द्वारा अनेक ग्रन्थों का अध्ययन किया, विद्वानों के समागम में प्रत्येक अनुयोग के ग्रन्थों की मीमांसा की, अनेक धुरन्धर वक्ताओं के भाषण सुने, अनेक तीर्थ यात्राएँ कीं, बड़े-बड़े चमत्कार सुनकर मुग्ध हो गये, तथा अनेक प्रकार के तप-

धारण कर शरीर को रुकड़ बना दिया परन्तु अन्त में बात यही निकली कि आत्मज्ञान होना अति कठिन है और यह कहकर सन्तोष कर लिया कि ग्यारह अङ्ग के पाठी भी जब तत्व ज्ञान से शून्य रहते हैं तब हमारी कथा ही क्या है ? यह सब अज्ञान का विलास है। यदि परमार्थ से विचारो तब यह तो तुम्हें ज्ञात है ही कि हमको छोड़ कर शेष पदार्थ चाहे वह चेतन हों, चाहे अचेतन हों, चाहे मिश्र हों; हमसे सब भिन्न है। जैसे आप यही तो कहते हैं—"यह मेरा बेटा है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पिता है, यह मेरी माँ है।" यह तो नहीं कहते—"मैं बेटा हूँ, मैं बाप हूं, मैं स्त्री हूँ, मैं माँ हूँ।" इससे सिद्ध हो गया कि आप उनसे भिन्न है। इसी प्रकार अपने से अतिरिक्त जितने पदार्थ है यही व्यवस्था उनके सम्बन्ध में भी जानना चाहिये।

अब रह गया निज शरीर, जिसके साथ आत्मा एक क्षेत्राव-गाही हो रहा है सो यह भी भिन्न वस्तु है। जैसे देखिये—किसी ने किसी के साथ विसवाद किया और विसंवाद में अपने मुख से दूसरे को गाली दी और थप्पड़ भी मार दी। तब वह बोला—"भाई अब रहने दो, जितना हमारा अपराध था उसका दण्ड आपने दे दिया। मैं आपको इसका धन्यवाद देता हूँ। अब आगे आपका अपराध नहीं करूँगा। अब शान्त हो जाइये।" इस वाक्य को सुनकर गाली और थप्पड़ देनेवाला एकदम शान्त हो गया और विचार करने लगा—"भाई सा० ! आपने मेरा बहुत उपकार किया, मैंने बड़ी भारी अज्ञानता से काम लिया कि आपको गाली दी और थप्पड़ भी मारी।" अब विचारिये गाली देनेवाला मुख है या आत्मा ? मुख तो शब्दोच्चारण में कारण हुआ क्रोध की उत्पत्ति जिसमें हुई थी वही तो आत्मा है। इसी तरह थप्पड़ मारने में हाथ निमित्त हुआ, थप्पड़ मारने

का भाव जिसमें हुआ वही आत्मा है। यदि अपराधी मुँह और हाथ होता तब इनको दण्ड देना उचित था सो वे तो अपराधी नहीं अपराधी तो आत्मा है। यही तो आत्मा है जो इन कार्यों में अन्तरङ्ग से कलुषित होता है।

यदि हम चाहें तो हर कार्य में पर से भिन्न आत्मा का अनुभव कर सकते हैं। इसके लिये बड़े-बड़े शास्त्रों और समागमों की आवश्यकता नहीं। आत्मज्ञान तो चलते-फिरते, खाते-पीते, पूजन स्वाध्याय करते समय सहज ही हो जाता है किन्तु हम उस ओर दृष्टि नहीं देते। हमारी दृष्टि पर की ओर रहती है। जैसे किसी ने किसी से कहा—"कौआ आपका कान ले गया" तो यह सुनकर वह कौवे के पीछे तो दौड़ता है किन्तु अपने कान पर हाथ नहीं रखता। न कौवा कान ले गया और न आत्मा पर में है। अपनी ओर दृष्टि देने से अनायास आत्मज्ञान हो सकता है परन्तु हम अनादि से पर को आत्मीय माननेवाले उस तरफ लक्ष्य नहीं देते। यही कारण है कि दर-दर दीन की तरह भटकते फिर रहे हैं। यह दीनता इसी समय मिट जावे यदि अपनी ओर लक्ष्य हो जावे।

मेरी श्रद्धा

मेरी तो यह श्रद्धा हो गई है कि इस संसार मे जितने भी प्राणी हैं और वे जो कुछ करते हैं आत्म शान्ति के लिये करते हैं। संसार में स्त्री पुरुष का सबसे अधिक स्नेह देखा जाता है। पुरुष स्त्री से स्नेह करता है और स्त्री पुरुष से स्नेह करती है परन्तु अन्तस्थ रहस्य का विचार करने पर यथार्थ कारण का पता लग जाता है। स्त्री की कामेच्छा पुरुष के संसर्ग से शान्त होती है और पुरुष की कामलिप्सा स्त्री द्वारा शान्त होती है। उसके लिये ही उन दोनों में परस्पर स्नेह रहता है अन्यथा उन दोनों की कामाग्नि शान्त होने का और कोई उपाय नहीं।

लोक में प्रत्येक मनुष्य ने प्राय: यह दृश्य देखा होगा कि जब बाप छोटे बालक को खिलाता है तब उसके मुख का चुम्बन करता है। बालक के कपोल अति कोमल होते हैं उनसे जब पिता की दाढ़ी मूँछ के बालों का संसर्ग होता है तब पिता प्रसन्न होता हैं, हंसता है, बालक के मुख को बार-बार चुम्बन करता है तथा कहता है मैं बालक को रमा रहा हूँ। परन्तु विचारा बालक मुख को सकोड़ता है, उसके मुख के पजे से मुक्त होना चाहता है, वह कठोर स्पर्श से दुखी हो जाता है पर अशक्तता वश वेदना से उन्मुक्त होने में असमर्थ रहता है। लोग समझते

हैं कि बाप बालक से प्रेम कर रहा है। वस्तुतः बाप बालक से प्रेम नहीं करता किन्तु उसके अन्दर बालक के साथ क्रीड़ा करने की जो इच्छा जन्य वेदना उत्पन्न होती है उसके दूर करने के लिये ही पिता का प्रयास है। लोक में इसी को कहते हैं कि पिता पुत्र को खिला रहा है। यही व्यवस्था प्रत्येक कार्य मे मानना न्याय्य है। जब हम किसी को दुखी देखते हैं तब उसके दुःख हरण के अर्थ दान देते हैं और लोक में यह प्रसिद्धि होती है कि अमुक व्यक्ति दरिद्र-दीनों के ऊपर दया करता है! वह बड़ा महोपकारी है। वास्तव मे देखा जावे तो हम उसका उपकार नहीं करते किन्तु उस दीन-दरिद्र को देखकर जो करुणा-कषाय उत्पन्न होती है उससे स्वयं दुःखित हो जाते हैं। उस दुःख के दूर करने का उपाय यही है कि उसके दुःख का प्रतिकार करें। परमार्थ से देखा जाय तो अपने ही दुःख का प्रतिकार करते हैं। इसी को लौकिक जन 'दया' कहते हैं और शास्त्रों में इसे ही परदुःखप्रहाणेच्छा कहा है। वास्तव में परदुःखप्रहाणेच्छा से हम स्वयं दुखी हो जाते हैं। जब तक उसके दूर करने की इच्छा हृदय में जागृत रहती है तब तक हमको चैन नहीं मिलता; अतः उस बेचैनी को दूर करने के लिये ही हम प्रयास करते हैं। लोक मे व्यवहार होता है कि अमुक व्यक्ति बड़ा परोपकारी है परन्तु उसके परोपकार में आत्मोपकार ही छिपा हुआ है। सर्वत्र यही प्रक्रिया लागू होती है। हम चाहे उसे अन्यथा समझे यह अन्य बात है परन्तु वस्तु मर्यादा यही है। जब मनुष्य तीव्र कषाय से दुखी होता है तब उस तीव्र कषाय की निवृत्ति के लिये नाना प्रकार के उपायों का आश्रय लेता है।

यह प्रक्रिया मन्दकषाय के उदय मे होती है। तीव्र और मन्द कषाय में केवल इतना ही अन्तर है कि तीव्र कषाय के

आवेश में हम पराया अनुपकार करके तीव्र कषाय जन्य वेदना दूर करने का प्रयत्न करते हैं। जैसे क्रोध के आवेश में पर को मारना ताड़ना इत्यादि क्रिया होती है। मन्द कषाय में पर के उपकारादि की भावना रहती है परन्तु दोनों जगह अभिप्राय केवल स्वीय कषाय जनित वेदना के प्रतिकार का रहता है। संसारी मानवों की कथा तो दूर रही जो सम्यग्ज्ञानी अविरती मनुष्य हैं उनकी क्रिया परोपकार के लिये होती है। उनके अभिप्राय में भी आत्मीय कषाय जनित पीड़ा को निवृत्ति करना एक यही लक्ष्य रहता है। अविरतीं मनुष्यों की कथा को छोड़ो, व्रती मनुष्यों के द्वारा जो परोपकार के कार्य किये जाते है उनका भी यही अभिप्राय रहता है कि किसी तरह से कषाय जनित पीड़ा की निवृत्ति हो। अथवा इनकी कथा छोड़ो महाव्रती भी कषाय जन्य पीड़ा से व्यथित होकर उसको दूर करने के लिये अपने उपयोग को नाना प्रकार के शुभोपयोग में लगाते हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि कोई भी जीव संसार में परोपकार नहीं करता किन्तु मैंने परोपकार किया ऐसा व्यवहार मात्र होता है।

मोह के उदय में यही होता है, मोह की महिमा अपरम्पार है—देखिये, श्री पूज्यपाद स्वामी लिखते है—

"यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम्॥"

तथा—

"न परैः प्रतिपाद्योऽहं न परान्प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः॥"

तात्पर्य यह है कि जिसे हम देखते हैं वह तो जानता नहीं और जो जाननेवाला हैं वह दृष्टिगोचर नहीं होता फिर किसके साथ बोलने का व्यवहार करे? अर्थात् किसी के साथ बोलने

का व्यवहार नहीं करना चाहिये। अभिप्राय कितना स्वच्छ है किसी से बोलना नहीं चाहिये। ऐसा तो अन्य प्राणियों के प्रति आचार्य का उपदेश है परन्तु चारित्र मोहोदय से उत्पन्न हुई जो कषाय उसकी वेदना को दूर करने के लिये आचार्य स्वय बोलते है। इसका यह तात्पर्य है कि कषाय जनित पीड़ा से निवृत्ति के लिये आचार्य का प्रयास है।

राजवार्तिक में श्री अकलङ्क देव ने उसकी भूमिका लिखते समय यही तो लिखा है—"नात्र शिष्याचार्यसम्बन्धो विवक्षितः किन्तु संसारसागरनिमग्नानेकप्राणिगणाभ्युजिहीर्षा प्रत्यागूर्णोऽन्तरेण मोक्षमार्गोपदेशे हितोपदेशो दुष्प्राप्य इत्यत आह "सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग" इति। अर्थात् श्री उमास्वामी को संसार दुःख से पीड़ित प्राणिवर्ग को देखकर हृदय में उनके उद्धार की इच्छा हुई और वही इच्छा सूत्र के रचने में कारणीभूत हुई। अभिप्राय यह है कि स्वामी का प्रयास इच्छाजनित आकुलता को दूर करना ही सूत्र निर्माण करने में मुख्य ध्येय था। अन्य प्राणी का उपकार हो जाय यह दूसरी बात है।

किसान खेती करता है—उसका लक्ष्य कुटुम्ब पालनार्थ धान्य उत्पत्ति करने का रहता है। पशु-पक्षी सभी उससे उपकृत होते है परन्तु कृषक का अभिप्राय उनके पोषण का नहीं रहता यदि हमारी सत्य श्रद्धा यह हो जावे तो आज ही हम कर्तृत्व बुद्धि के चक्र से बच जावें। परमार्थ बुद्धि से विचार करो तब कोई द्रव्य किसी का कुछ करता ही नहीं। निमित्त कर्ता हो परन्तु वह उपादान रूप तो तीन काल में भी नहीं हो सकता। यथा—

'जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदे दव्वं।
सो अण्णमसंकतो कह ते परिणामए दव्वं॥'

जो द्रव्य अपने निज द्रव्य में अथवा गुण में वर्तता है वह अन्य द्रव्य और उसके गुणरूप संक्रमण नहीं करता, पलटकर अन्य में नहीं मिल जाता, फिर वह अन्य द्रव्य को स्व स्वरूप कैसे परिणमा सकता है ? अर्थात् प्रत्येक द्रव्य का जो परिणमन है उस परिणमन का वही द्रव्य उपादान कारण होता है। ऐसा सिद्धांत होने पर भी मोह के उदय में जीव पर के उपकार की चेष्टा करता है। यदि परमार्थ से विचार कर तो उस कार्य के अन्तर्गत अपनी कषाय जन्य पीड़ा के दूर करने का अभिप्राय ही पाया जायेगा। इस विषय में बहुत लिखने की आवश्यकता नहीं। सर्वसाधारण की यह अनुभूत है-"जो हम करते हैं उसके अन्तर्गत हमारी बलवती इच्छा ही कारण पड़ती है अतः हमको अन्तरङ्ग से यह भाव पृथक् कर देना उचित है कि हम परोपकार करते हैं। केवल हमको जो कषाय उत्पन्न होती है उसको पीड़ा सहने को हम असमर्थ रहते हैं अतः उसका दूर करना हमारा लक्ष्य है। इस प्रकार की श्रद्धा करने से हम कर्तृत्व-बुद्धि से, जो कि संसार बंधन का कारण है-बच जावेंगे।"

धर्म

इस संसार मे जितने धर्म देखे जाते है उन सबका मूल कारण आत्मा की विभाव परिणति ही है। क्योंकि जब आत्मा में मोह का अभाव हो जाता है तब इसके न तो अनात्मीय पदार्थों में आत्मीय बुद्धि होती है और न राग द्वेष की ही उत्पत्ति होती है। जब अनात्मीय पदार्थों में आत्मीय बुद्धि होती हैं तब इसकी श्रद्धा मिथ्या रहती है और तब यह अनेक प्रकार के विकल्प कर जगत् को अपनाने की कल्पना करता है। यद्यपि कोई अपना नहीं है, क्योंकि सब पदार्थों की सत्ता पृथक्-पृथक् है। परन्तु मिथ्या श्रद्धाके सहचार से इसका ज्ञान विपर्यय हो रहा है। जैसे कामला रोगवाला शंख को पीला मानता है इसी प्रकार यह भी अन्य पदार्थों में निजत्व की कल्पना करता है।

यदि यह संज्ञी हुआ और क्षयोपशम ज्ञानकी विशेषता हुई तथा कषाय का मन्द उदय हुआ तो जानपने की विशेषता से इसके ऐसी इच्छा होती है कि यह ठाठ कहां से आया ? इसका मूल कारण क्या है ? तब ऐसी कल्पना करता है कि संसार मे जो कार्य देखे जाते है उनका कोई न कोई बनानेवाला अवश्य है। वह सोचता है कि जैसे घट पट आदि पदार्थ बिना कुम्भकार या जुलाहा के नही बन सकते वैसे ही इतने बड़े जगत् का भी कोई न कोई बनानेवाला अवश्य होना चाहिये। जब यह

प्रश्न होता है कि वह बनानेवाला कौन है ? तब ऐसी कल्पना करता है कि कोई ऐसा अलौकिक सर्वशक्तिमान् है जिसे हम आँखों से नहीं देख सकते । भारतवासियों ने उसका नाम ईश्वर रखा, अरबवालों ने अल्ला रखा, विलायतवालों ने गाड रखा और ईरानवालों ने खुदा नाम रख लिया । यद्यपि ऐसी कल्पना तो कर ली पर इसे माने कौन ? तब कई पढ़े-लिखे लोगों ने पुस्तकों की रचना की । जो भारतवासी थे उन्होंने संस्कृत में रचना की और उसका नाम वेद रखा और कहा कि इसका रचयिता ईश्वर है जिन्हें यह नहीं रुचा उन्होंने वेद को अपौरुषेय बतलाया और कहा कि इस ब्रह्माण्ड को कौन बना सकता है । इसकी अनादि से ऐसी ही रचना चली आई है । इस जगत् का भी कर्ता कोई नहीं । वेद अनादि निधन हैं । इनमें जो यागादि कर्म बतलाये हैं वे ही प्राणियों को स्वर्गादि के दाता हैं ! वेद मे जो कुछ लिखा है उसी के अनुकूल सबको चलना चाहिये । इसी में सबका कल्याण है ! वेद विहित कर्म का आचरण करना ही धर्म है ।

इस प्रकार यह जीव राग, द्वेष और मोहवश नाना प्रकार की कल्पनाओं में उलझा हुआ है और उनकी श्रद्धा कर तदनुकूल प्रवृत्ति करने में धर्म मानता है । पर वास्तव में धर्म क्या है ? यह प्रश्न विचारणीय है तत्त्वतः देखा जाय तो जो धर्मी पदार्थ के साथ अभेद सम्बन्ध से तीन काल रहे उसी का नाम धर्म है । वास्तव में तो वह अनिर्वचनीय है परन्तु ऐसा भी नहीं कि पदार्थ सर्वथा अनिर्वचनीय है । यदि ऐसा मान लिया जावे तब संसार का आज जो व्यवहार है वह सभी लोप हो जावे, परन्तु ऐसा होता नहीं । वाच्य वाचक शब्दों द्वारा वस्तु का व्यवहार लोक में होता है । जैसे घट शब्द कहने से लोक

से घट रूप अर्थ का बोध होता ही है। यद्यपि शब्द पर्याय अन्य है घट पर्याय अन्य है। घट शब्द का प्रत्यक्ष कर्ण इन्द्रिय से होता है और घटात्मक जो पृथ्वी की पर्याय है उसका प्रत्यक्ष चक्षु इन्द्रिय से होता है। अस्तु यहाँ पर जो धर्म के स्वरूप पर विचार हो रहा है वह क्या है? मेरी समझ में तो यह आता है कि—"धर्म नामक पदार्थ या जिस शब्द से कहिये वह जो धर्मी नामक वस्तु है उससे अभिन्न है। अर्थात् धर्म अपने धर्मी से तीन काल मे भिन्न नहीं हो सकता।" जैसे अग्नि में उष्ण धर्म है वह कभी भी अग्नि से पृथक् नहीं हो सकता। यदि उष्णता अग्नि से पृथक् हो जावे तो वह अग्नि ही न रह जावे। इसी तरह धर्म तीन काल में अपने धर्मी से भिन्न नहीं हो सकता। जैसे आत्मा का धर्म जीवत्व है उसका अस्तित्व तीनों कालों में आत्मा के साथ रहता है, उसी के द्वारा जीव पदार्थ की सत्ता है। उसके बिना जीव का अस्तित्व ही नहीं। यद्यपि "अस्तित्व गुण के बिना किसी पदार्थ का ज्ञान में भान ही नहीं होता" यह बात सर्व सम्मत है परन्तु अस्तित्व गुण साधारण है, सभी पदार्थों में पाया जाता है। उससे सामान्य बोध होता है। जीव अजीव की विशेष व्यवस्था नहीं बन सकती। अतः जीव अजीव की विशेष व्यवस्था के लिये असाधारण धर्म की आवश्यकता है। तब जीव नामक जो पदार्थ है उसमे जीवत्व नामक एक ऐसा असाधारण धर्म है जिसके द्वारा उसे हम अजीव पदार्थों से भिन्न कर सकते हैं और जीवत्व नामक जो गुण या धर्म है वह जीव की जितनी भी अवस्थाएँ हैं सभी में पाया जाता है। चाहे जीव एकेन्द्रिय हो, चाहे विकलत्रय हो, चाहे असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय हो, चाहे संज्ञी पञ्चेन्द्रिय हो, चाहे ब्राह्मण हो, चाहे क्षत्रिय हो, चाहे वैश्य हो, चाहे शूद्र हो, चाहे गृहस्थ

हो, चाहे देशव्रती हो, चाहे महाव्रती हो, चाहे केवली हो, चाहे देव हो, चाहे सिद्ध हो सभी पर्यायों में पाया जाता है।

यह धर्म जीव को अजीवों से भिन्न करने में साधक है, अनादि निधन है, इसके बल से ही जीव की सत्ता है, किन्तु इसको जानकर हमें यह अभिमान नहीं करना चाहिये कि सिद्ध में भी जीवत्व है, हम में भी जीवत्व है अतः हम तुच्छ क्यों? जैसे सिद्ध भगवान सर्व मान्य हैं उसी तरह हमें भी सर्वमान्य होना चाहिये।

जड़वाद की उपासना

राजा भोज का उपाख्यान इस बात का द्योतक है कि वह ज्ञान के प्रभाव से स्वयं रक्षित रहे तथा उनका विरोधी जो मुञ्ज था वह भी उनका हितैषी बन गया और भोज को राज्य का अधिपति बना कर आप संसार से विरक्त हो गया। इसी तरह हम लोगों को उचित है कि संसार को अनित्य जान अपना वैभव पुत्रादिकों को देकर मोक्षमार्ग में लगना चाहिए। जो गृहस्थी छोड़ने में असमर्थ हैं उन्हें चाहिये कि अपनी सन्तति को सुशिक्षित बनाने का प्रयत्न करें और जो विशेष धन सम्पन्न हैं उन्हें चाहिये कि वे दूसरों के बालकों को सुशिक्षित बनाने में अपने द्रव्य का सदुपयोग करें।

"अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥"

"यह मेरा है, यह पराया है" ऐसी गणना करना ओछे चित्तवाले मनुष्यों का काम है। किन्तु जिनका चरित उदार है वे पृथिवीमात्र को अपना कुटुम्ब मानते हैं!" वास्तव में ऐसे उदारचरितवाले ही प्रशस्त हैं परन्तु इस मोहमय जगत् में बहुत प्राणी तो मोह मदिरा में इतने मग्न हैं कि मोक्षमार्ग की ओर उनका जरा भी लक्ष्य नहीं। यही कारण कि वे दूसरों के बालकों की बात तो जाने दीजिये अपने ही बालकों को

मनुष्य बनाने की चेष्टा नहीं करते। वास्तव में वह मनुष्य मनुष्य नहीं जो अपने बालकों को मनुष्य बनाने की चेष्टा नहीं करते। जिस धन का धनी बालक को बनाना चाहते हो यदि पहले उसे इस योग्य न बनाया गया कि वह धन का उपयोग कैसे करे तो इससे क्या लाभ? जैसे कल्पना करो कि कोई आदमी अन्नादि द्रव्यों के स्वाद का भोक्ता बनना चाहे परन्तु मलेरिया ज्वर के निवारणार्थ कोई प्रयत्न न करे तो क्या वह उस अन्न के स्वाद को पा सकता है? कभी नहीं। इसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिये।

आज कल लोग ज्ञान का प्रभाव और महत्व बहुत ही कम समझते हैं इसीलिये जड़वाद को मानने वाले हैं, जड़ ही से प्रेम है। बालकों से जो प्रेम है वह केवल उनके शरीर से प्रेम है अतः नाना प्रकार के आभूषणों से उन्हें सजाते है, नाना भोजन देकर उन्हें पुष्ट करते है परन्तु न उन बालकों की आत्मा से प्रेम है न उसके सद्गुणों से सजाते है और न ज्ञान का भोजन देकर उसे पुष्ट ही करना चाहते है। इसी प्रकार स्त्री के शरीर से ही प्रेम है अतः निरन्तर उसके शरीर की रक्षा के लिये प्रयत्न करते हैं। यदि स्त्री बीमार हो जावे तो वैद्य या डाक्टरों को सैकड़ों रुपये देकर उसे निरोग कराने की चेष्टा करते है परन्तु अज्ञान रोग से ग्रस्त उसकी आत्मा की चिकित्सा में कभी एक पैसा भी व्यय नही करना चाहते। सोचने की बात है कि जिस तरह शरीर पोषण के लिये हम अपने द्रव्यका व्यय करते है वैसा आत्म पोषण के लिये करे तो शारीरिक रोगों और आपत्तियों के बन्धन की बात तो दूर रही सांसारिक रोग और आपत्तियों के बन्धन सदा के लिये टूट जावें।

वस्त्राभरण और खेल कूद के सामान की बात छोड़िये; एक

बालक के खान-पान में ही केवल १) दिन से कम व्यय नहीं होता। इस हिसाब से एक वर्ष में ३६५) हुए और ५ वर्ष में १८२५) हुए। यदि एक ग्राम मे ४० ही बालक होंगे तो उनका व्यय ७३०००) हुआ। परन्तु यदि उनके आदर्श जीवन निर्माण के लिये, उन्हें शिक्षित बनाने के लिये उस ग्राम में या न सही ग्राम प्रान्त में भी एक शिक्षालय खोलने की अपील की जावे तो बड़ी कठिनता से ५०००) भी मिलना अति कठिन है। इसका कारण हम लोग केवल जड़ की उपासना करने वाले हैं अतः शरीर से ही प्रेम है आत्मा से नहीं। व्यक्तिगत अपनी बात तो जाने दीजिये मन्दिर में जाकर भी जड़वाद की ही उपासना करते हैं। मूर्ति को चाकचिक्य रखना जानते हैं परन्तु जिसकी वह मूर्ति है उसकी आज्ञाओं पर चलना नहीं जानते। मूर्ति की सौम्यता से आत्मा की वीतरागता का अनुभव कर हमें उचित तो यह था कि आत्मा में कलुषित परिणामों के अभाव से ही शान्ति का उदय होता है और उन्ही आत्माओं के बाह्य शरीर का ऐसा सौम्य आकार हो जाता है अतः उनकी आज्ञाओं पर चलकर अन्तर और बाहर सौम्य बनाने का प्रयत्न करते परन्तु इस ओर दृष्टि ही नहीं देते। इसका कारण यही है कि हम अपने चौबीसों घण्टे जड़वाद की उपासना में व्यय करते हैं। दिन भर अपने व्यापारादि कार्यों में इधर उधर के लोगों की वचना करते हैं, थोड़ा समय निकाल कर यद्वा तद्वा अपनी शक्ति के अनुकूल जड़ भोजन कर तृप्ति कर लेते हैं, कुछ अवकाश मिला तो बालकों के साथ अपना मन बहलाव कर लेते हैं। कुछ अधिक सम्पन्न हुए तो मोटरों की फक फक द्वारा किसी बाग में जाकर नेत्रों से उसकी शोभा निरख कर, नाक से सुगन्ध लेकर और जीभ से फलादि चख-

कर अपने को धन्य मान लेते हैं। रात्रि के समय सिनेमा आदि का प्रदर्शन कर अपने कुटुम्ब को कुमार्ग में लगाकर प्रसन्न हो जाते हैं अपनी स्त्री के साथ नाना प्रकार की मिथ्या गल्प कर भाँड़ों जैसी लीलाकर रात्रि व्यतीत करते है। इस प्रकार आजन्म इसी चक्र में फँसे हुए जाल मे फँसी मकड़ी की तरह सांसारिक जाल मे अपनी जीवन लीला समाप्त करते हैं।

स्थितिकरण अङ्ग

आजकल के समय में स्थितिकरण अङ्ग की विशेषता चली गई। वास्तव में स्थितिकरण तो उसे कहते हैं:—

उम्मग्ग गच्छन्तं सगं पि मग्ग ठवेदि जो चेदा।
सो ठिदिकरणा जुत्तो सम्माइट्ठी मुणेयव्वो॥

उन्मार्ग में जाते हुए अपने आत्मा को सन्मार्ग में जो स्थापन करता है उस स्थित करनेवाले जीव को सम्यग्दृष्टि कहते हैं। तात्पर्य यह है कि मनुष्यों के पूर्व विपाक से नाना आपत्तियाँ आती हैं उस समय अच्छे अच्छे मनुष्य धैर्य का परित्याग कर देते हैं तथा उनकी श्रद्धा में भी अन्तर पड़ने लगता है। यह असंभव नहीं, अनादि काल से आत्मा का संसर्ग पर पदार्थों के साथ एकमेक हो रहा है अन्यथा ऐसा न होता तब आहारादि विषयक इच्छा ही नहीं होती। देखो सम्यग्दर्शन होने के बाद ज्ञान तो सम्यक् हो गया, आत्मा से विपरीताभिनिवेश निकल गया, जिस जिस रूप में पदार्थों की स्थिति है उन्हें उसी उसी रूप में मानता है। आत्मा को आत्मत्व धर्म द्वारा और शरीर को शरीरत्व धर्म द्वारा ही बोध का विषय करता है। "शरीराद्‌जीवो भिन्नः" शरीर से आत्मा भिन्न है और आत्मा से शरीर भिन्न है ऐसा दृढ़ निश्चय है।

तथा यह भी दृढ़ निश्चय है कि आत्मा अमूर्तिक ज्ञानादि गुणों का पिण्ड है, आत्मा में जो रागादिक हैं वे आत्मा के विभाव भाव हैं, इनके द्वारा आत्मा निज स्वरूप से च्युत है इनसे आत्मा को बंध होता है। ये भाव आत्मा को दुःखदायी हैं, पदार्थों का परिणमन आत्मीय चतुष्टय के द्वारा हो रहा है कोई किसी के परिणमन के अस्तित्व को अन्यथा नहीं कर सकता अथवा जिसमें जो परिणमन की शक्ति नहीं उसमें वह परिणमन करने की कोई शक्ति नही जो करा सके। फिर भी चारित्रमोह के उदय की बलवत्ता देखिये कि सम्यग्दर्शन के द्वारा यथार्थ निर्णय होने पर भी जीव ससार को सुधारना चाहता है, विवाहादि कार्य कर गृहस्थ बनता है, बालकादि उत्पन्न कर हर्ष मानता है, शत्रुओं के साथ विरोधी हिंसा कर उन्हें पराजित करता है या स्वयं पराजित होता है। जगत भर की सम्पदा का संग्रह करता है और सम्यग्दर्शन के बल से श्रद्धा इतनी निर्मल है कि इस जगत में मेरा परमाणुमात्र भी नहीं तथा मन्द कषायोदय हुआ तो देशव्रत को अङ्गीकार करता है। उसके ग्यारह भेद होते है, अन्त के भेद में एक लँगोटीमात्र परिग्रह रह जाता है। उसको पर जानता हुआ भी छोड़ने में असमर्थ है। यह क्या मामला? चारित्र मोह की ही महिमा है। पूर्व मोह की अपेक्षा विशेष मोह मन्द हुआ तब वह लँगोटी मात्र परिग्रह त्याग देता है, नग्न दैगम्बरी दीक्षा धारण करता है, सभी परिग्रह को त्याग देता है तिलतुषमात्र भी परिग्रह नहीं रखता। फिर जो मोह उदय में है उसकी महिमा देखो कि जीवों की रक्षा के लिये पीछी और शौच के लिए कमण्डलु तथा ज्ञानाभ्यास के लिए पुस्तक परिग्रह को रखता भी है। आत्मा द्रव्योपेक्षया अजर अमर है फिर भी पर्याय की स्थिरता

के लिए भोजनादिग्रहण करता ही है। यद्यपि यह निश्चय है कि कोई किसी का उपकार नहीं करता फिर भी हजारों शिष्यों को दीक्षा, शिक्षा देते ही हैं। स्वयं कहते हैं—

"यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान्प्रतिपादये।
उन्मत्त चेष्टित तन्मे यदहं निर्विकल्पकः ॥"

तथा उपदेश देते हैं—

"यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥"

"जो जानने वाला है वह तो दिखता नहीं और जो दिखता है वह जाननेवाला नहीं तब किससे वाग्व्यवहार करूँ। अर्थात् किसी से वचन व्यवहार नहीं करना" यह तो शिष्यों को पाठ पढ़ाते हैं और आप स्वयं इसी व्यवहार को कर रहे हैं।

तथा श्री आचार्यवर्यों को यह निश्चय है कि सर्व पदार्थ स्वतः सिद्ध अनादि निधन धारावाही प्रवाह से चले आ रहे हैं। तथा चले जावेंगे फिर भी मोह में भावना यह हो रही है—

"सत्त्वेषुमैत्री गुणिषु प्रमोदं
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वं।
माध्यस्थभावं विपरीत वृत्तौ–
सदा ममात्मा विदधातु देव ॥"

"संसार के सभी प्राणियों से मेरा मैत्रीभाव हो, अपने से अधिक गुणवानों को देख कर आनन्द हो, दुःखियों के प्रति दया और अपने प्रतिकूल चलनेवालों के प्रति माध्यस्थ भाव हो।"

इससे यह सिद्धान्त निकला कि सम्यग्दर्शी के होने से यथार्थ ज्ञान हो गया है फिर भी चारित्रमोह के उदय में क्या क्या व्यापार करता है सो किसी से अज्ञात नहीं। यह तो मोह

की परिपाटी है यह परिपाटी यहीं पूर्ण नहीं होती। इसके सद्भाव में जिन कर्मों का अर्जन करता है इनके अभाव में वे कर्म भी उदय में आकर अपना कार्य कराते ही हैं चाहे वह आत्मा का कुछ अन्यथा न कर सकें परन्तु प्रदेश परिस्पन्दन तो करा ही देते हैं। जैसे मोह के अभाव होने से क्षीण मोह हो गया और अन्तर्मुहूर्त में ज्ञानावरणादि कर्मों का नाश होकर अनन्त चतुष्टय का स्वामी भी हो गया, परन्तु फिर भी अनेक देशों में भ्रमण करता है और जीवों के हितार्थ अनेक बार दिव्योपदेश भी करता है। जब यह व्यवस्था है तब यदि कोई व्यक्ति कर्मोदय से धीरता से च्युत हो जावे तो क्या आश्चर्य है? इसलिये धर्मात्माओं का प्रथम कर्तव्य होना चाहिये कि स्थितकरण अङ्ग को अपनावें। बड़े-बड़े कर्म के चक्र में आ जाते हैं तब यदि यह क्षुद्र जीव आ जावे तब आश्चर्य की कौन-सी बात?

श्री रामचन्द्रजी बलभद्र होते हुए भी सीता के अपहरण होने पर इतने व्याकुल हुए कि वृक्षों से पूछते हैं क्या आप लोगों ने देखा है हमारी सीता कहाँ गई? कौन ले गया? पर वस्तु ही तो थी यदि चली गई तो रामचन्द्रजी महाराज की कौनसी क्षति हुई। तथा लक्ष्मण का अन्त हो गया तब उन्हें लिये लिये छह मास तक दर दर भ्रमण करते फिरे! इसी तरह यदि वर्तमान में किसी के स्त्री का वियोग हो जावे या पुत्रादि का वियोग हो जावे और वह उसके दुःख से यदि दुखी हो जावे तब क्या वह सम्यग्दर्शन से च्युत हो गया? अथवा कल्पना करो च्युत भी हो जावे तब उसे फिर उसी पद में स्थितिकरण करो। कर्म के विपाक में क्या-क्या नहीं होता?

आपने पद्मपुराण में पढ़ा होगा कि विभीषण ने जब निमित्त

ज्ञानियों से यह सुना कि रावण की मृत्यु सीता के निमित्त से श्री रामचन्द्रजी के द्वारा लक्ष्मण से होगी, तब एकदम दुखी हो गया और विचार करता है कि "न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी" न रहेंगे दशरथ और न रहेंगे जनक तब कहाँ से होगी सीता ? और कहाँ से होंगे रामचन्द्र ? ऐसा विचार कर दोनों को मारने का सकल्प कर लिया। यहाँ की वार्ता श्रवण नारदजी ने एक दम अयोध्या और मिथिलापुरी मे जाकर दोनों राजाओ को यह समाचार सुना दिया। मन्त्रियों ने दोनों को गुप्त स्थान मे भेज दिया और उनके सदृश दो लाख के पुतले बनवाकर रख दिये। विभीषण दोनों का शिरच्छेद कराकर आनन्द से लङ्का जाता है और विचार करता है कि मैंने महान् अनथ किया पश्चात् फिर ज्यों का त्यों धर्मात्मा बन जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जो आत्मा कर्मोदय मे बड़े-बड़े अनर्थ कर डालता है वही आत्मा समय पाकर धर्मात्मा हो हो जाता है। अतः यदि कोई जीव कर्म के विपाक मे धर्म से शिथिल होने के सम्मुख हो या शिथिल हो जाय तब धर्मात्मा पुरुष का काम है कि उसका स्थितिकरण करे। गल्पवाद मात्र से स्थितिकरण नही होता उसके लिए मन, बचन, काय तथा धनादि सामग्री से उसकी रक्षा करना चाहिये। हम लोग व्याख्यानों में ससार भर की बात कह जाते है किन्तु उपयोग मे रत्ती भर भी नही लाते। इस पर—"क्या करें पचम काल है, धर्मात्माओं की संख्या घट गई, कोई उपाय वृद्धि का नहीं" इत्यादि कथा कर सन्तोष कर लेना कायरों का काम है यदि आप चाहो तो आज ही ससार मे धर्म का प्रचार हो सकता है। पहिले तो हम स्वय धर्मात्मा बनना चाहिये पश्चात् यथा-शक्ति उसका प्रचार करना चाहिये। यदि हमारे घर में ५) प्रति

दिन खर्च में निर्वाह होता है तो उसमें से आठ आने अपने जो गरीब पड़ोसी हैं उनके लिए व्यय करना चाहिये। केवल वाचनिक सहानुभूति से स्थितिकरण नहीं होता और कहीं वाचनिक और कहीं कायिक सहानुभूति भी स्थिति करने में सहायक हो सकती है। परन्तु सर्वत्र नहीं। यथा योग्य सहानुभूति से कार्य चलेगा। महापुरुष वही है जो समय के अनुरूप कार्य करे। आगम में तो यहाँ तक लिखा है—

"जानन्नप्यात्मनस्तत्त्व विविक्त भावयन्नपि।
पूर्व विभ्रम संस्काराद् भ्रान्ति भूयोऽपि गच्छति॥"

अर्थात् अन्तरात्मा अपने आत्म तत्त्व के यथार्थस्वरूप को जानता हुआ भी तथा शरीरादि पर पदार्थों से अपने को भिन्न अनुभव करता हुआ भी पूर्व बहिरात्मावस्था में "शरीर आत्मा है" इस संस्कार के द्वारा फिर भी भ्रान्ति को प्राप्त हो जाता है। अनादि काल से अनात्मीय पदार्थों में आत्मीय बुद्धि थी दैव बल से जब इसे अन्तरात्मा का बोध हो गया पश्चात् वही वासना जो अनादि काल से थी उसके संस्कार बल से फिर भी भ्रान्ति को प्राप्त हो जाता है अतः उसको फिर भी इस ओर लगाने का प्रयत्न करना उचित है। आचार्य उसे उपदेश देते हैं—

"अचेतन मिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यहम्॥"

जिस काल में यह अपने पद से विचलित हो जावे उस समय अन्तरात्मा यह विचार करता है कि "यह दृश्यमान पदार्थ इन्द्रिय गोचर हो रहा है वह अचेतन है और जो चेतन पदार्थ है वह दृश्यमान नहीं है अर्थात् अदृश्य है। मैं किस में रोष करूँ और किसमें सन्तोष करूँ। मध्यस्थ होना ही मुझे

श्रेयस्कर है।" जो रोष तोष को जाननेवाला है वह तो दर्शन का विषय ही नहीं और जो दर्शन का विषय है वह रोष तोष को जानता नहीं अतः रोष तोष करना व्यर्थ है। जब बड़े बड़े आचार्य महाराजों ने विचलित आत्माओं को अपने दिव्योपदेशों द्वारा मोक्ष-मार्ग में स्थित कर उनका उपकार किया तब हम लोगों को भी उचित है कि वर्तमान में अपने सजातीय संज्ञी मनुष्यों को सुमार्ग में लाने का प्रयत्न करना चाहिये। इस अङ्ग की व्यापकता संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मात्र तक जानना चाहिये। केवल जो हमारी जाति के हैं या जो धर्म के पालने वाले हैं, वहीं तक इसकी सीमा नहीं। जो कोई भी अन्याय मार्ग में जाता हो उसे उस मार्ग से रोक कर आत्म-धर्म पर लाना चाहिये, क्योंकि धर्म किसी व्यक्ति विशेष का नहीं, जो भी आत्मा विभाव परिणामों को त्याग दे और आत्मा का जो निरपेक्ष स्वाभाविक परिणमन है उसे जान कर तद्रूप हो जावे वही इस धर्म का पात्र है। आजकल बहुत से सङ्कीर्ण हृदय इस व्यापक धर्म को व्याप्य बनाने की चेष्टा करते हैं, यद्यपि उनके प्रयत्न से ऐसा हो नहीं सकता परन्तु अल्पज्ञ लोग उसे उन्हीं का धर्म मानने लगते हैं, अतः इस आत्म धर्म को जो व्यापक है, हमारा धर्म है, ऐसा रूप नहीं देना चाहिये। क्योंकि यह तो प्राणीमात्र का धर्म है तब प्रत्येक आत्मा इस धर्म का अधिकारी है।

एक आँखों देखी—

मैं जब बनारस में अध्ययन करता था तब भेलूपुरा में रहता था। वहाँ पर जो मन्दिर का माली था उसे भगत-भगत के नाम से पुकारते थे। वह जाति का कोरी था। परन्तु हृदय का बहुत ही स्वच्छ था, दया तो उसके हृदय में गङ्गा के प्रवाह

की तरह बहती थी। मन्दिर में जब साफ करने को जाता था, सर्वप्रथम श्री जिनेन्द्रदेव के दर्शन करता था और यह प्रार्थना करता था—"हे भगवन्! मुझे ऐसी सुमति दो कि मेरे स्वप्न में भी पर अपकार के परिणाम न हों तथा निरन्तर दया के भाव रहें। और कुछ नहीं चाहता।" यही उसका प्रति दिन का कार्य था।

एक दिन की बात है कि चार आदमी (जिनमें ३ ब्राह्मण और १ भाई था) मन्दिर में आये। धर्मशाला में ठहर गये, भगतजी से बोले—"भगतजी! हम बहुत भूखे हैं तुम हमको रोटी दो।" वह बोला—"हम जाति के कोरी हैं, हमारी रोटी आप कैसे खाओगे?" वह बोले—"आपत्ति काले मर्यादा नास्ति" आपत्तिकाल में लोक मर्यादा नहीं देखी जाती। हमारे तो प्राण जा रहे हैं तुम धर्म-कर्म की बात कर रहे हो!" यह कहना सर्वथा अनुचित है, यदि हमारे प्राण बच गये तब हम फिर प्रायश्चित्तादि कर धर्म-कर्म की चर्चा करने लगेंगे। अब विशेष बात करने की आवश्यकता नहीं। इस वर्ष दुर्भिक्ष पड़ गया, हमारे यहाँ कुछ अन्न नहीं हुआ। इससे हम लोगों ने कुटुम्ब त्याग कर परदेश जाने का निश्चय कर लिया। चार दिन के भूखे हैं या तो रोटी दो या मना करो कि जाओ यहाँ रोटी नहीं तो अन्यत्र जाकर भीख माँग कर अपने प्राण बचायेंगे।" भगत ने कहा—"महाराज! यह आधा सेर गुड़ है आप लोग पानी पीवें। मैं बाजार जाकर आटा लाता हूँ।" वे लोग कुएँ पर पानी पीने लगे। भगत ने अपनी स्त्री से कहा—"आगी तैयार करो मैं बाजार से आटा लाता हूँ।" उसने आगी तैयार की, भगत तीन सेर आटा और बैगन लाये, उन लोगों ने आनन्द से रोटी खाई और भगतजी से कहा

कि तुमने हमारा महान उपकार किया। पश्चात् उन चारों आद्-मियों को काम मिल गया। एक माह के बाद वह अपने-अपने घर चले गये और भगत से यह व्रत ले गये कि हम लोग निर-न्तर आजीवन परोपकार करेंगे। कहने का तात्पर्य यह कि भगत ने उन चार मनुष्यों का स्थितिकरण किया।

एक आप बीती—

यह तो मनुष्यों की बात है, अब एक कथा आप बीती सुनाता हूं और वह है हिंसक जन्तु की, जिसकी रक्षा बाईजी ने की। कथा इस प्रकार है—

"सागर में हम कटरा धर्मशाला में रहते थे, उसमें एक बिल्ली ने प्रसव किया। दैवात् वह मर गई और उसके बच्चे भी मर गये। एक बालक बच गया, परन्तु माँ के मरने से और दुग्धादि के न मिलने से दुर्बल हो गया। मैं बाईजी के पास आया और एक पीतल के बर्तन में दूध लाकर उस बिल्ली के बच्चे के सामने रख दिया और वह दूध पीकर बोलने लगा। बाईजी भी आ गईं। हमसे कहने लगीं—"बेटा! क्या करते हो?" मैंने कहा—"बाईजी! इसकी माँ मर गई। यह तड़पता था। मुझे उसकी यह दशा देखकर दया आ गई। अतः आपसे दूध लाकर उसको पिला दिया, क्या बेजा बात हुई?" बाईजी बोली—"ठीक है परन्तु यह हिंसक जन्तु है, कभी तुम इसी पर रुष्ट हो जाओगे। संसार है, हम और तुम किस-किस की रक्षा करेंगे? अपने योग्य काम करना चाहिये।" मैंने कहा—"जो हो हम तो इसे दूध पिलावेंगे।" मैंने उसे एक माह तक दूध पिलाया। एक दिन की बात है कि एक छोटा चूहा उस बच्चे के सामने आ गया। उसने दूध को छोड़ झट उसे मुख से पकड़ लिया। इस क्रिया को देखकर मैं उसे थप्पड़ मारने की चेष्टा

करने लगा। बाईजी ने मेरा हाथ पकड़ लिया और मेरे गाल पर एक थप्पड़ मारा तथा बोलीं—"बेटा! यह क्या करता है? उसका कोई अपराध नहीं। वह तो स्वभाव से हिंसक है, उसका मुख्यतया मांस ही आहार है, तू क्यों दुःखी होता है? तूने विवेकशून्य काम किया, उसका पश्चात्ताप करके प्रायश्चित्त करना चाहिये न कि पाप के भागी बनना चाहिये। मनुष्य को उचित है कि अपने पद के विरुद्ध कदापि कोई कार्य न करे। यही कारण है कि दयालु आदमी हिंसक जन्तुओं को नहीं पालते। अस्तु, भविष्य में ऐसा न करना। अथवा इसका यह अर्थ नहीं कि हिंसक जीवों पर दया ही न करना। जिस दिन वह बच्चा मर रहा था उस दिन तूने जो उसे दूध दिया, कोई बुरा काम नहीं किया परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उनके पालने का एक व्यसन बना लो। लोग औषधालय खोलते हैं, उसमें यह नियम नहीं होता कि कसाई को दवा नहीं देना चाहिये, देने वाले का अभिप्राय प्राणियों का रोग चला जाय, यही रहता है। रोग जाने के बाद वह क्या करेंगे, इस ओर दृष्टि नहीं जाती।"

यह तो बाईजी का उपदेश था। अन्त में वह बिल्ली का बालक उस दिन से जहाँ मेरे को देखता था, भाग जाता था। और जब मैं भोजन करके अपने स्थान पर चला जाता था तब बिल्ली का बच्चा बाईजी के पास आकर बैठ जाता था और म्याऊँ-म्याऊँ करने लगता था। बाईजी उसे दूध में रोटी भिगोकर एक स्थान पर रख देतीं थीं। वह बच्चा खाकर चला जाता था। पश्चात् फिर दूसरे दिन भोजन के समय आकर बाईजी से रोटी लेकर खाता और चला जाता। जब बाईजी सागर से बरुआ सागर चली जाती थीं तब एक दिन पहले से

वह भोजन नहीं करता था तथा जिस दिन बाईजी रेल पर जाती थीं तब बाईजी का ताँगा जब तक न चले तब तक खड़ा रहता था और जब ताँगा चलने लगे तब वह फिर लौट आता था, पर हमारे पास कभी भी नहीं आता था। जब बाईजी बरुआ सागर से आ जातीं तब बाईजी के पास आ जाता था। एक दिन वह दूध रोटी नहीं खाने लगा। बाईजी ने बहुत कहा, नहीं खाया। दो दिन कुछ नहीं खाया। बाईजी उसे णमोकार मन्त्र सुनाने लगीं। प्रतिदिन णमोकारमन्त्र सुनकर नीचे चला जाता था। तीसरे दिन उसने णमोकार मन्त्र सुनते-सुनते प्राण छोड दिये। मरकर कहाँ गया, हम नहीं जानते परन्तु इतना जानते हैं कि बाईजी को वह अपना रक्षक समझता था, क्योंकि बाईजी ने उसकी रक्षा की थी। हमारी थप्पड़ से हमें रक्षक नहीं मानता था। कहने का तात्पर्य यह है कि पशु भी अपने स्थिति करने वाले को समझते हैं, अतः पशुओं में जब यह ज्ञान है तब मनुष्यों का तो कहना ही क्या है। इसलिए मानवों का स्थिति-करण सम्यग्दर्शन का एक प्रमुख अङ्ग है।

भगवान् महावीर

समय—

बिहार प्रान्त के कुन्डनपुर नृपति सिद्धार्थ की आँखों का तारा, त्रिशला का दुलारा बालक महावीर, कौन जानता था मूकों का संरक्षक, विश्व का कल्याण पथ दर्शक बनेगा ?

ईशवी सन् के ५६८ वर्ष पूर्व जब भगवान् श्री पार्श्वनाथ के निर्वाण पश्चात् कोई धर्म प्रवर्तक न रहा, स्वार्थीजन अपनी स्वार्थ साधना के लिये अपनी ओर, अपने धर्म की ओर दूसरों को आकर्षित करने के लिए यज्ञ बलि वेदियों में जीवों को जला देना भी धर्म बताने लगे, अश्वमेध, नरमेध जैसे हिंसात्मक कार्यों को भी स्वर्ग और मोक्ष का सीधा मार्ग कह कर जीवों को भुलावे में डालने लगे, संसार श्मसान प्रतीत होने लगा, एक रक्षक की ओर जनता आशा भरी दृष्टि लिए देखने लगी, यही वह समय था जब भगवान् महावीर ने भारत वसुन्धरा को अपने जन्म से सुशोभित किया।

बाल जीवन—

सर्वत्र आनन्द छा गया, राज परिवार एक कुल दीपक और विश्व एक अलौकिक दिव्य ज्योति प्राप्त कर अपने आपको धन्य समझने लगा। बालक महावीर द्वोयजचन्द्र के समान

बढ़ते हुए दुःखातुर संसार को त्राण देने के लिए विद्याभ्यास और अनेक कलाओं के पारगामी एवं कुशल संरक्षक के रूप में दुनिया के सामने आये। अवस्था के साथ उनके दया दाक्षिण्यादि गुण भी युवावस्था को प्राप्त हो रहे थे। परन्तु अपनी सुन्दरता, युवावस्था, विद्या और कलाओं का उन्हें कभी अभिमान नहीं हुआ।

श्री वीर प्रभु ने बाल्यावस्था से लेकर ३० वर्ष घर ही में बिताये और उन वर्षों को अविरत अवस्था ही में व्यय किया। श्री वीर प्रभु बाल-ब्रह्मचारी थे अतः सबसे कठिन व्रत जो ब्रह्मचर्य है उन्होंने अविरतावस्था में ही पालन किया। क्योंकि संसार का मूल कारण स्त्री विषयक राग ही है। इस राग पर विजय पाना उत्कृष्ट आत्मा का ही काम है। वास्तव में वीर प्रभु ने इस व्रत का पालन कर संसार को दिखा दिया—"यदि कल्याण करना इष्ट है तब इस व्रत को पालो। इस व्रत का पालने से शेष इन्द्रियों के विषयों में स्वयमेव अनुराग कम हो जाता है।"

आदर्श ब्रह्मचारी—

वीर प्रभु ने अपने बाल-जीवन से हमको यह शिक्षा दी कि—"यदि अपना कल्याण चाहते हो तो अपनी आत्मा को पञ्चेन्द्रियों के विषयों से और ज्ञान परिणति को पर पदार्थों में उपयोग से रक्षित रखो।" बाल्यावस्था से ही वीर प्रभु संसार के विषयों से विरक्त थे क्योंकि सबसे प्रबल संसार में स्त्री विषयक राग है अतः उस राग के बस होकर यह आत्मा अन्धा हो जाता है। जब पुवेद का उदय होता है तब यह जीव स्त्री सेवन की इच्छा करता है। प्रभु ने अपने पिता से कह दिया—"मैं इस

संसार के कारण विषय सेवन में नहीं पड़ना चाहता।" पिता ने कहा—"अभी तुम्हारी युवावस्था है अतः दैगम्बरी दीक्षा अभी तुम्हारे योग्य नहीं। अभी तो सांसारिक कार्य करो पश्चात् श्री आदिनाथ स्वामी की तरह विरक्त हो जाना।" श्री वीर प्रभु ने उत्तर दिया—"पहले से कीचड़ लगाया जावे, पश्चात् जल से उसे धोया जावे यह मैं उचित नहीं समझता। विषयों से कभी आत्म तृप्ति नहीं होती। यह विषय तो खाज खुजाने के सदृश है। प्रथम तो यह सिद्धान्त है कि पर पदार्थ का परिणमन पर में हो रहा है, हमारा परिणमन हम में हो रहा है। उसे हम अपनी इच्छा के अनुकूल परिणमन नहीं करा सकते। इसलिये उससे सम्बन्ध करना योग्य नहीं है। जो पदार्थ हमसे पृथक् हैं उन्हें अपनाना महान् अन्याय है। अतः जो पर की कन्या हमसे पृथक है उसे मैं अपना बनाऊँ यह उचित नहीं। प्रथम तो हमारा आपका भ कोई सम्बन्ध नहीं। आपकी जो आत्मा है वह भिन्न है, मेरी आत्मा भिन्न है। इसमें यही प्रत्यक्ष प्रमाण है कि आप कहते हैं विवाह करो, मैं कहता हूँ वह सर्वथा अनुचित है। यह विरुद्ध परिणमन ही हमारे और आपके बीच महान् अन्तर दिखा रहा है। अतः विवाह की इस कथा को त्यागो। आत्म कल्याण के इच्छुक मनुष्य को चाहिये कि वह अपना जीवन ब्रह्मचर्य पूर्वक व्यतीत करे। और उस जीवन का सदुपयोग ज्ञानाभ्यास में करे। क्योंकि उस ब्रह्मचर्य व्रत के पालने से हमारी आत्मा रागपरिणति—जो अनन्त संसार में रुलाती है; उससे बच जाती है। यह तो अपनी दया हुई और उस राग परिणति से जो अन्य स्त्री के साथ सहवास होता है वह भी जब हमारी राग परिणति में फँस जाती है तब उस स्त्री का जीव भी अपने को इस राग द्वारा अनन्त संसार मे

फँसा जाता है इसलिए दूसरे के फँसाने में भी हम ही कारण होते हैं। इस प्रकार दो जीव इस राग व्याल के लक्ष्य हो जाते हैं। दोनों का घात हो जाता है अतः जिसने इस ब्रह्मचर्य व्रत को पाला उसने दो जीवों को संसार बन्धन से बचा लिया और यदि आदर्श उपस्थित किया तो अनेकों को बचा लिया।"

वैराग्य की ओर—

कुमार महावीर की अवस्था ३० वर्ष की थी। जब माता-पिता ने पुनः पुनः विवाह का आग्रह किया, राज्यभार ग्रहण करने का अभिप्राय व्यक्त किया तब उन्होंने दृढ़ता के साथ उत्तर दिया—"यह संसार बन्धन का मुख्य कारण है, इसको मैं अत्यन्त हेय समझता हूँ। जब मैंने इसे हेय माना तब यह राज्य सम्पदा भी मेरे लिये किस काम की? अब मैं दिगम्बर दीक्षा ग्रहण करूँगा। जब मैं राग को ही हेय समझता हूँ तब ये जो राग के कारण हैं वे पदार्थ तो सदा हेय ही है। वास्तव में अन्य पदार्थ न तो हेय हैं और न उपादेय हैं क्योंकि वे तो पर वस्तु हैं न वह हमारे हित कर्ता हैं, न वह हमारे अहित कर्ता ही हैं। हमारी रागद्वेष परिणति जो है उसमें हित कर्ता तथा अहितकर्ता प्रतीत होते हैं। वास्तव में हमारे साथ जो अनादि काल से रागद्वेष का सम्बन्ध हो रहा है वही दुखदाई है। आत्मा का स्वभाव तो ज्ञाता दृष्टा है, देखना-जानना है, उसमें जो रागद्वेष मोह की कलुषता है वही संसार की जननी है। आज हमारे यह निश्चय सफल हुआ कि हम पर पदार्थों के निमित्त से रागद्वेष होता है। उस रागद्वेष के निमित्त को ही त्यागना चाहिए। निश्चय सफल हुआ इसका अर्थ यह है कि सम्यग्दर्शन के सहकार से ज्ञान तो सम्यक् था ही और बाह्य

पदार्थों से उदासीनता भी थी परन्तु चारित्र मोह के उदय से उन पदार्थों को त्यागने में असमर्थ थे परन्तु आज उस अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान कषाय के अभाव में वे पदार्थ स्वयं छूट गये। छूटे तो पहले ही थे क्योंकि भिन्न सत्ता वाले थे केवल चारित्र मोह के उदय में सम्यगज्ञानी होकर भी उनको छोड़ने में असमर्थ थे। यद्यपि सम्यगज्ञानी होने से भिन्न समझता था। आज पिता से कह दिया—"महाराज! इस संसार का एक अणु मात्र भी पर द्रव्य मेरा नहीं!" क्योंकि—

"अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाण मइयो सदा रूपी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तंपि॥"

अर्थात् मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञान दर्शनमय हूँ सदा अरूपी हूँ। इस संसार में परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। मेरे ज्ञान में पर पदार्थ दर्पण की तरह बिम्ब रूप से प्रतिभासित हो रहे हैं, यह ज्ञान की स्वच्छता है। अर्थात् ज्ञान की स्वच्छता का उदय है न कि ज्ञेय का अंश भी मेरे में आया हो—यह दृढ़ निश्चय है। जैसे दर्पण जो रूपी पदार्थ है, उसकी स्वच्छता स्वपराव भासिनी है। जिस दर्पण के समीप भाग में अग्नि रक्खी है उस दर्पण में अग्नि के निमित्त को पाकर उसकी स्वच्छता में अग्नि प्रतिबिम्बित हो जाती है। परन्तु "क्या दर्पण में अग्नि है?" नहीं, जब दर्पण में अग्नि नहीं तब अग्नि की ज्वाला और उष्णता भी दर्पण में नहीं। तब यह मानना पड़ेगा कि अग्नि की ज्वाला और उष्णता तो अग्नि में ही है, दर्पण में जो प्रतिबिम्ब दिख रहा है वह दर्पण की स्वच्छता का विकार है। इसी तरह ज्ञान में जो ये बाह्य पदार्थ भासमान हो रहे हैं वे बाह्य पदार्थ नहीं। बाह्य पदार्थ की सत्ता तो बाह्य पदार्थों में

है। ज्ञान में जो भासमान हो रहा है वह ज्ञान का ही परिणमन हो रहा है।"

साधना के पथ पर—

पश्चात् श्री वीर प्रभु ने संसार से विरक्त हो दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण की। सभी प्रकार के बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर दिया। बालों को घासफूस की तरह निर्ममता के साथ उखाड़ फेंका। ग्रीष्म की लोल-लपटें, मूसलाधार वर्षा और शिशिर का झंझावात सहन कर प्रकृति पर विजय प्राप्त की, और अनेक उपसर्गों को जीतकर अपने आप पर विजय प्राप्त की। उन्होंने बताया—"वास्तव में यह परिग्रह नहीं, मूर्च्छा के निमित्त होने से इन्हें उपचार से परिग्रह कहते हैं। क्योंकि धन-धान्य आदि पदार्थ पर वस्तु हैं। कभी आत्मा के साथ इनका तादात्म्य हो सकता है, इन्हें अपना मानता है, यह मानना परिग्रह है। उसमें ये निमित्त पड़ते हैं इससे इन्हें निमित्त कारण की अपेक्षा परिग्रह कहा है, परमार्थ से तो क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद, और मिथ्यात्व ये आत्मा के चतुर्दश अन्तरङ्ग परिग्रह हैं। इनमें मिथ्यात्व भाव तो आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण का विकार है जो दर्शन मोहनी कर्म के विपाक से होता। है शेष जो क्रोधादि तेरह प्रकार के भाव हैं वे भाव चारित्र मोहनीय कर्म के विपाक से होते हैं। इन भावों के होने से आत्मा में अनात्मीय पदार्थ में आत्मीय बुद्धि होती है अर्थात् जब आत्मा में मिथ्यात्व भाव का उदय होता है उस काल मे इसका ज्ञान विपर्यय हो जाता है। यद्यपि ज्ञान का काम जानना है वह तो विकृत नहीं होता अर्थात् जैसे कामलता

रोगवाला नेत्र से देखता तो है ही परन्तु शुक्ल वस्तु को पीला देखेगा। जैसे शंख शुक्ल वर्ण है वह शंख ही देखेगा परन्तु पीत वर्ण ही देखेगा। एवं मिथ्यादर्शन के सहवास से ज्ञान का जानना नहीं मिटेगा परन्तु विपरीतता आ जावेगी। जैसे मिथ्यादृष्टि जीव शरीर को आत्मा रूप से देखेगा अर्थात् शरीर में शरीरत्व धर्म है पर यह अज्ञानी (मिथ्याज्ञानी) जीव उसमें आत्मत्व धर्म का भान करेगा। परमार्थ से शरीर आत्मा नहीं होगा और न तीन काल में आत्मा हो सकता है, क्योंकि वह जड़ पदार्थ है उसमें चेतना नहीं परन्तु मिथ्यात्व के उदय से "शरीर में आत्मा है" यह बोध हो ही जाता है। तब इसका ज्ञान मिथ्या कहलाता है। इसका कारण बाह्य प्रमेय है। बाह्य प्रमेय वैसा नहीं जैसा इसके ज्ञान में आ रहा है। तब यह सिद्ध हुआ कि बाह्य प्रमेय की अपेक्षा से यह मिथ्या ज्ञान है। अन्तरङ्ग प्रमेय की अपेक्षा तो विषय बाधित न होने से उस काल में उसे मिथ्या नहीं कह सकते। अतएव न्याय में विकल्प सिद्ध जहाँ पर होता है वहाँ पर सत्ता या असत्ता ही साध्य होता है। अनादिकाल से यह जीव इसी चक्कर मे फँसा हुआ अपने निज स्वरूप से बहिष्कृत हो रहा है। उसका कारण यही मिथ्याभाव है। क्योंकि मिथ्या दृष्टि के ज्ञान में "शरीर ही आत्मा है" ऐसा प्रतिभास हो रहा है। उस ज्ञान के अनुकूल वह अपनी प्रवृत्ति कर रहा है। जब शरीर को आत्मा मान लिया तब जो शरीर के उत्पादक हैं उन्हें अपने माता पिता और जो शरीर से उत्पन्न हैं उनमें अपने पुत्र पुत्री तथा जो शरीर से रमण करनेवाली है उसे स्त्री मानने लगता है। तथा जो शरीर के पोषक धनादिक हैं उन्हें अपनी सम्पत्ति मानने लगता है, उसी में राग परणति कर उसीके सञ्चय करने का

उपाय करता है। इसमें जो बाधक कारण होते हैं उनमें प्रति-कूल राग द्वेष द्वारा उनके पृथक करने की चेष्टा करता है। मूल जड़ यही मिथ्यात्व है जो शेष तेरह प्रकार के परिग्रह की रक्षा करता है। इन्हीं चतुर्दश प्रकार के परीग्रह से ही तुमको संसार की विचित्र लीला दिख रही है यदि यह न हो तो यह सभी लीला एक समय में विलीन हो जावे।"

दिव्योपदेश—

दैगम्बरी दीक्षा को अवलम्बन कर बारह वर्ष तक घोर तपश्चरण कर केवल ज्ञान के पात्र हुए। केवल ज्ञान के बाद भगवान् ने दुखातुर संसार को दिव्योपदेश दिया—

"संसार में दो जाति के पदार्थ हैं—१ चेतन, २ अचेतन। अचेतन के पाँच भेद हैं—पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। चार पदार्थों को छोडकर जीव और पुद्‌गल यह दो पदार्थ प्रायः सब के ज्ञान में आ रहे हैं जीव नामक जो पदार्थ है वह प्रायः सभी के प्रत्यक्ष हैं, स्वानुभव गम्य है। सुख दुःख का जो प्रत्यक्ष होता है वह जिसे होता है यही आत्मा है। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, यह प्रतीति जिसे होती है वही आत्मा है और जो रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन्द्रिय के द्वारा जाना जाता है वह रूपादि गुण वाला है—उसे पुद्‌गल द्रव्य कहते हैं। इन दोनों द्रव्यों की परस्पर में जो व्यवस्था होती है उसी का नाम संसार है। इसी संसार में यह जीव चतुर्गति सम्बन्धी दुखों को भोगता हुआ काल व्यतीत करता है। परमार्थ से जीव द्रव्य स्वतन्त्र है और पुद्‌गल स्वतन्त्र है—दोनों की परिणति भी स्वतन्त्र है। परन्तु यह जीव अज्ञान बस अनादि काल से पुद्‌गल को अपना मान अनन्त संसार का पात्र हो रहा है।

आत्मा में देखने जाने की शक्ति है परन्तु यह जीव उस शक्ति का यथार्थ उपयोग नहीं करता अर्थात् पुद्गल को अपना मानता है, अनात्मीय शरीर को आत्मा मान कर उसकी रक्षा के लिये जो जो यत्न किया करता है वे यत्न प्रायः संसारी जीवों के अनुभव गम्य होते हैं। इसलिये परमार्थ से देखा जाय तो कोई किसी का नहीं। इससे ममता त्यागो। ममता का त्याग तभी होगा जब इसे पहले अनात्मीय जानोगे। जब इसे पर समझोगे तब स्वयमेव इससे ममता छूट जायगी। इससे ममता छोड़ना ही संसार दुःख के नाश का मूल कारण है। परन्तु इसे अनात्मीय समझना ही कठिन है। कहने में तो इतना सरल है कि "आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है, आत्मा ज्ञाता दृष्टा है, शरीर रूप रस गन्ध स्पर्श वाला है। जब आत्मा का शरीर से सम्बन्ध छूट जाता है तब शरीर में कोई चेष्टा नहीं होती" परन्तु भीतर बोध हो जाना कठिन है। अतः सर्व प्रथम अनात्मीय पदार्थों से अपने को भिन्न जानने के लिये तत्व ज्ञान का अभ्यास करना चाहिए। आत्म ज्ञान हुए बिना मोक्ष का पथिक होना कठिन है, कठिन क्या असम्भव भी है। अतः अपने स्वरूप को पहिचानो। तथा अपने स्वरूप को जानकर उसमें स्थिर होओ। यही संसार से पार होने का मार्ग है।

"सबसे उत्तम कार्य दया है। जो मानव अपनी दया नहीं करता वह पर की भी दया नहीं कर सकता। परमार्थ दृष्टि से जो मनुष्य अपनी दया करता है वही पर की दया कर सकता है।

"इसी तरह तुम्हारी जो यह कल्पना है कि हमने उसको सुखी कर दिया, दुखी कर दिया, इनको बँधाता हूँ, इनको छुड़ाता हूँ, यह सब मिथ्या है। क्योंकि यह भाव का व्यापार

पर मैं नहीं होता। जैसे—आकाश के फूल नहीं होते वैसे ही तुम्हारी कल्पना मिथ्या है। सिद्धान्त तो यह है कि अध्यवसान के निमित्त से बँधते हैं और जो मोक्षमार्ग में स्थित है वह छूटते हैं तुमने क्या किया? यथा तुमने क्या यह अध्यवसान किया कि इसको बन्धन में डालूँ और इसको बन्धन से छुड़ा दूँ? नहीं अपि तु यहां पर—"एनं बंधयामि" इस क्रिया का विषय तो "इस जीव को बन्धन में डालूं" और "एनं मोचयामि" इसका विषय-"इस जीव को बन्धन से मुक्त करा दूं" यह है। और उन जीवों ने यह भाव नहीं किये तब वह जीव न तो बँधे और न छूटे और तुमने वह अध्यवसान नहीं किया अपितु उन जीवों में एक ने सराग परिणाम किये और एक ने वीतराग परिणाम किये तो एक तो बन्ध अवस्था को प्राप्त हुआ और एक छूट गया। अतः यह सिद्ध हुआ कि पर में अकिंचित्कर होने से यह अध्यवसान भाव स्वार्थ क्रिया कारी नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि हम अन्य पदार्थ का न तो बुरा कर सकते हैं और न भला कर सकते हैं। हमारी अनादि काल से जो यह बुद्धि है कि "वह हमारा भला करता है, वह बुरा करता है, हम पराया भला करते हैं, हम पराया बुरा करते हैं, स्त्री पुत्रादि नरक ले जाने वाले हैं, भगवान स्वर्ग मोक्ष देने वाले हैं।" यह सब विकल्प छोड़ो। अपना जो शुभ परिणाम होगा वही स्वर्ग ले जाने वाला है और जो अपना अशुभ परिणाम होगा वही नरकादि गतियों में ले जाने वाला है। परिणाम में वह पदार्थ विषय पड़ जावे यह अन्य बात है। जैसे ज्ञान में ज्ञेय आया इसका यह अर्थ नहीं कि ज्ञेय ने ज्ञान उत्पन्न कर दिया। ज्ञान ज्ञेय का जो सम्बन्ध है उसे कौन रोक सकता है? तात्पर्य यह कि पर पदार्थ के प्रति राग द्वेष करने का जो मिथ्या अभिप्राय

हो रहा है उसे त्यागो; अनायास निज मार्ग का लाभ हो जावेगा। त्यागना क्या वश की बात है? नहीं, अपने ही परिणामों से सभी कार्य होते हैं।

"जब यह जीव स्वकीय भाव के प्रति पक्षी, भूत, रागादि अध्यवसाय के द्वारा मोहित होता हुआ सम्पूर्ण पर द्रव्यों को आत्मा में नियोग करता है तब उदयागत, नरकगति आदि कर्म के वश, नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव, पाप, पुण्य जो कर्म-जनित भाव है उन रूप अपनी आत्मा को करता है। अर्थात् निर्विकार जो परमात्म तत्त्व है उसके ज्ञान से भ्रष्ट होता हुआ "मैं नारकी हूँ, मैं देव हूँ" इत्यादि रूप कर उदय में आये हुए कर्मजनित विभाव परिणामों की आत्मा में योजना करता है। इसी तरह धर्माधर्मास्तिभाव जीव, अजीव, लोक, अलोक ज्ञय पदार्थों को अध्यवसान के द्वारा उनकी परिच्छित्ति विकल्प रूप आत्मा को व्यपदेश करता है।

"जैसे घटाकार ज्ञान को घट ऐसा व्यपदेश करते हैं वैसे ही धर्मास्तिकाय विषयक ज्ञान को भी धर्मास्तिकाय कहना असंगत नहीं। यहाँ पर ज्ञान को घट कहना यह उपचार है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब यह आत्मा पर पदार्थोंको अपना लेता है तब यदि आत्म-स्वरूप को निज मान ले तब इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है? स्फटिकमणि स्वच्छ होता है और स्वयं लालिमा आदि रूप परिणमन नहीं करता किन्तु जब उसे रक्त स्वरूप परिणत जपापुष्प का सम्बन्ध हो जाता है तब वह उसके निमित्त से लालमादि रम रूप परिणत हो जाता है। एतावता उसका लालिमादि रूप स्वभाव नहीं हो जाता। निमित्त के अभाव में स्वयं सहजरूप हो जाता है। इसी तरह आत्मा स्वभाव से रागादि रूप नहीं है परन्तु रागादि कर्म

की प्रकृति जब उदय मे आती है उसकाल में उसके निमित्त को पाकर यह रागादि रूप परिणमन को प्राप्त हो जाता है। इसका स्वभाव भी रागादि नही है क्योंकि नैतिक भाव है परन्तु फिर भी इसमें होता है। जब निमित्त नहीं होता तब परिणमन नहीं करता। अब यहाँ पर आत्मा, चेतन पदार्थ है यह निमित्त को दूर करने की चेष्टा नही करता, किन्तु आत्मा मे जो रागादिक हैं उन्हीं को दूर करने का उद्योग करता है और यह कर भी सकता है क्योंकि यह सिद्धान्त है—"अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य कुछ नही कर सकता। अपने में जो रागादिक हैं वे अपने ही अस्तित्व में हैं, आप ही उसका उपादान कारण है। जिस दिन चाहेगा उसी दिन से उनका ह्रास होने लगेगा।" उन रागादिक का मूल कारण मिथ्यात्व है जो सभी कर्मों को स्थिति अनुभाग देता है। उसके अभाव मे शेष कम रहते हैं। परन्तु उनको बल देनेवाला मिथ्यात्व जाने से वह सेनापति विहीन की तरह हो जाते हैं। यद्यपि सेना मे स्वयं शक्ति है परन्तु वह शक्ति उत्साहहीन होने से शूर की शूरता की तरह अप्रयोजक होती रहती है। इसी तरह मोहादिक कर्म के बिना शेष सात कर्म अपने कार्यों मे सेनापति जो मोह था उसका अभाव हो गया उस कर्म का नाश करनेवाला यही जीव है जो पहले स्वयं चतुर्गति भवावर्त मे गोता लगाता था आज स्वयं अपनी शक्ति का विकास कर अनन्त सुखामृत का पात्र हो   है। जब ऐसी वस्तु मर्यादा है तब आप भी जीव है यदि चाहें तो इस संसार का नाश कर अनन्त सुख के पात्र हो सकते है।"

सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शन का अर्थ आत्मलब्धि है। आत्मा के स्वरूप का ठीक-ठीक बोध हो जाना आत्मलब्धि कहलाती है। आत्मलब्धि के सामने सब सुख धूल है। सम्यग्दर्शन आत्मा का महान गुण है। इसी से आचार्यों ने सबसे पहिले उपदेश दिया—"सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग. (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष का मार्ग है)।" आचार्य की करुणा बुद्धि तो देखो, मोक्ष तब हो जब कि पहले बन्ध हो। यहाँ पहले बन्ध का मार्ग बतलाना था फिर मोक्ष का, परन्तु उन्होंने मोक्षमार्ग का पहले वर्णन इसीलिये किया है कि ये प्राणी अनादि काल से बन्ध जनित दुःख का अनुभव करते-करते घबड़ा गये हैं, अत. पहले उन्हें मोक्ष का मार्ग बतलाना चाहिये। जैसे कोई कारागार मे पड़कर दुखी होता है, वह यह नहीं जानना चाहता कि मैं कारागार में क्यों पड़ा? वह तो यह जानना चाहता है कि मैं इस कारागार से कैसे छूटूँ? यही सोचकर आचार्य ने पहले मोक्ष का मार्ग बतलाया है।

सम्यग्दर्शन के रहने से विवेक-शक्ति सदा जागृत रहती है, वह विपत्ति में पड़ने पर भी कभी न्याय को नहीं छोड़ता। रामचन्द्र जी सीता को छुड़ाने के लिये लङ्का गये थे। लङ्का के चारों ओर उनका कटक पड़ा था। हनुमान आदि ने रामचन्द्र

जी को खबर दी कि रावण बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर रहा है, यदि उसे विद्या सिद्ध हो गई तो फिर वह अजेय हो जायगा। आज्ञा दीजिये जिससे कि हम लोग उसकी विद्या की सिद्धि मे विघ्न डालें।

रामचन्द्र जी ने कहा—"हम क्षत्रिय हैं, कोई धर्म करे और हम उसमे विघ्न डालें, यह हमारा कर्तव्य नहीं है।"

हनुमान ने कहा—"सीता फिर दुर्लभ हो जायँगी।"

रामचन्द्रजी ने जोरदार शब्दों में उत्तर दिया—"एक सीता नहीं दशों सीताएँ दुर्लभ हो जायें, पर मैं अन्याय करने की आज्ञा नही दे सकता।"

रामचन्द्र जी में इतना विवेक था, उसका कारण उनका विशुद्ध क्षायक सम्यग्दर्शन था।

सीता को तीर्थ-यात्रा के बहाने कृतान्तवक्र सेनापति जङ्गल में छोड़ने गया, उसका हृदय वैसा करना चाहता था क्या? नही; वह स्वामी की आज्ञा परतन्त्रता से गया था। उस समय कृतान्तवक्र को अपनी पराधीनता काफी खली थी। जब वह निर्दोष सीता को जङ्गल में छोड़ अपने अपराध की क्षमा माँग वापस आने लगता है तब सीता जी उससे कहती हैं—"सेनापति! मेरा एक सन्देश उनसे कह देना। वह यह कि जिस प्रकार लोकापवाद के भय से आपने मुझे त्यागा, इस प्रकार लोकापवाद के भय से धर्म को न छोड़ देना।"

उस निराश्रित अपमानित दशा में भी उन्हें इतना विवेक बना रहा। इसका कारण क्या था? उनका सम्यग्दर्शन। आजकल की स्त्री होती तो पचास गालियाँ सुनाती और अपने समानता के अधिकार बतलाती। इतना ही नहीं, सीता जी जब नारद जी के आयोजन द्वारा लव कुशल के साथ अयोध्या

वापस आती हैं, एक वीरतापूर्ण युद्ध के बाद पिता-पुत्र का मिलाप होता है, सीता जी लज्जा से भरी हुई राज दरबार में पहुंचती हैं, उन्हें देखकर रामचन्द्र जी कह उठते हैं—"तुम बिना शपथ दिये, बिना परीक्षा दिये यहाँ कहाँ ?"

सीता ने विवेक और धैर्य के साथ उत्तर दिया—"मैं समझी थी कि आपका हृदय कोमल है पर क्या कहूँ ? आप मेरी जिस प्रकार चाहें शपथ लें।"

रामचन्द्र जी ने कहा—"अग्नि में कूदकर अपनी सचाई की परीक्षा दो।"

बड़े भारी जलते हुए अग्निकुण्ड में सीता जी कूदने को तैयार हुईं। रामचन्द्र जी लक्ष्मण से कहते हैं कि सीता जल न जाय।"

लक्ष्मण जी ने कुछ रोषपूर्ण शब्दों मे उत्तर दिया—"यह आज्ञा देते समय नहीं सोचा ? वह सती हैं, निर्दोष हैं, आज आप उनके अखण्ड शील की महिमा देखिये।"

उसी समय दो देव केवली की वन्दना से लौट रहे थे, उनका ध्यान सीता जी का उपसर्ग दूर करने की ओर गया। सीता जी अग्निकुण्ड में कूद पड़ीं, कूदते ही सारा अग्निकुण्ड जलकुण्ड बन गया ! लहलहाता कोमल कमल सीता जी के लिये सिंहासन बन गया ! पुष्पवृष्टि के साथ "जय सीते ! जय सीते !" के नाद से आकाश गूँज उठा ! उपस्थित प्रजाजन के साथ राजा राम के भी हाथ स्वयं जुड़ गये, आँखों से आनन्द के अश्रु बरस उठे, गद्‌गद् कण्ठ से एकाएक कह उठे—"धर्म की सदा विजय होती है, शील व्रत की महिमा अपार है।"

रामचन्द्र जी के अविचारित वचन सुनकर सीता जी को संसार से वैराग्य हो चुका था, पर "निःशल्यो व्रती" व्रती

को निःशल्य होना चाहिये। इसलिये उन्होंने दीक्षा लेने से पहले परीक्षा देना आवश्यक समझा था। परीक्षा में वह पास हो गईं।

रामचन्द्र जी ने उनसे कहा—"देवि! घर चलो, अब तक हमारा स्नेह हृदय में था पर लोक-लाज के कारण आँखों में आ गया है।"

सीता जी ने नीरस स्वर में कहा—"नाथ! यह संसार दुःख रूपी वृक्ष की जड़ है, अब मैं इसमें न रहूँगी। सच्चा सुख इसके त्याग में ही है।"

रामचन्द्र जी ने बहुत कुछ कहा—"यदि मैं अपराधी हूँ तो लक्ष्मण की ओर देखो, यदि यह भी अपराधी है तो अपने बच्चों लव-कुश की ओर देखो और एक बार पुनः घर में प्रवेश करो।" पर सीता जी अपनी दृढ़ता से च्युत नहीं हुईं। उन्होंने उसी समय केश उखाड़ कर रामचन्द्र जी के सामने फेंक दिये और जङ्गल में जाकर आर्या हो गईं। यह सब काम सम्यग्दर्शन का है, यदि उन्हें अपने आत्म-बल पर विश्वास न होता तो वह क्या यह सब कार्य कर सकती थीं? कदापि नहीं।

अब रामचन्द्र जी का विवेक देखिये जो रामचन्द्र सीता के पीछे पागल हो रहे थे, वृक्षों से पूछते थे कि क्या तुमने मेरी सीता देखी है? वही जब तपश्चर्या में लीन थे सीता के जीव प्रतीन्द्र ने कितने उपसर्ग किए पर वह अपने ध्यान से विचलित नहीं हुये। शुक्ल ध्यान धारण कर केवलि अवस्था को प्राप्त हुए।

सम्यग्दर्शन से आत्मा में प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुण प्रकट होते हैं जो सम्यग्दर्शन के अविनाभावी हैं। यदि आप में यह गुण प्रकट हुये हैं तो समझ लो कि

हम सम्यग्दृष्टि हैं। कोई क्या बतलायगा कि तुम सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि। अप्रत्याख्यानावरण कषाय का संस्कार छह माह से ज्यादा नहीं चलता। यदि आपके किसी से लड़ाई होने पर छह माह के बाद तक बदला लेने की भावना रहती है तो समझ लो अभी हम मिथ्यावादी हैं। कषाय के असख्यात लोक प्रमाण स्थान है उनमें मन का स्वरूप यों ही शिथिल हो जाना प्रशम गुण है। मिथ्यादृष्टि अवस्था के समय इस जीव को विषय कषाय में जैसी स्वच्छन्द प्रवृत्ति होती है। वैसी सम्यग्दर्शन होने पर नहीं होती। यह दूसरी बात है कि चारित्र मोह के उदय से वह उसे छोड़ नहीं सकता हो पर प्रवृत्ति मे शैथिल्य अवश्य आ जाता है।

प्रशम का एक अर्थ यह भी है जो पूर्व की अपेक्षा अधिक ग्राह्य है—"सद्यः कृतापराधी जीवों पर भी रोष उत्पन्न नहीं होना" प्रशम कहलाता है। बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करते समय रामचन्द्र जी ने रावण पर जो रोष नहीं किया था वह इसका उत्तम उदाहरण है।

प्रशम गुण तब तक नहीं हो सकता जब तक अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी क्रोध विद्यमान है। उसके छूटते ही प्रशम गुण प्रकट हो जाता है। क्रोध ही क्या अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी मान माया लोभ—सभी कषाय प्रशम गुण के घातक हैं।

ससार और संसार के कारणों से भीत होना ही संवेग है। जिसके संवेग गुण प्रकट हो जाता है वह सदा आत्मा मे बिकार के कारण भूत पदार्थों से जुदा होने के लिये छटपटाता रहता है

सब जीवो में मैत्र भाव का होना ही अनुकम्पा है। सम्यग्दृष्टि जीव सब जीवोंको समान शक्ति का धारी अनुभव करता

है। वह जानता है कि संसार में जीवकी जो विविध अवस्थाएं हो रही हैं उनका कारण कर्म है, इसलिये वह किसी को नीचा ऊँचा नहीं मानता वह सब में समभाव धारण करता है।

ससार, संसार के कारण, आत्मा और परमात्मा आदि में आस्तिक्य भावका होना ही आस्तिक्य गुण है। यह गुण भी सम्यग्दृष्टि के ही प्रकट होता है, इसके बिना पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये उद्योग कर सकना असम्भव है।

ये ऐसे गुण हैं जो सम्यग्दर्शन के सहचारी हैं और मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव में होते हैं।

गागर में सागर

गागर में सागर

इस भव वन के मध्य में जिन विन जाने जीव ।
भ्रमण यातना सहनकर पाते दुःख अतीव ॥ १ ॥
सर्वहितङ्कर ज्ञानमय कर्मचक्र से दूर ।
आतम लाभ के हेतु तस चरण नमूं हत क्रूर ॥ २ ॥

आत्मज्ञान —

कब आवे वह शुभग दिन जा दिन होवे सूझ ।
पर पदार्थ को भिन्न लख होवे अपनी बूझ ॥ ३ ॥
जो कुछ है सो आप में देखो हिये विचार ।
दर्पण परछाहीं लखत श्वानहिं दुःख अपार ॥ ४ ॥
आतम आतम रटन से नहिं पावहि भव पार ।
भोजन की कथनी किये मिटे भूख क्या यार ॥ ५ ॥
यह भवसागर अगम है नाहीं इसका पार ।
आप सम्हाले सहज ही नैया होगी पार ॥ ६ ॥

केवल वस्तु स्वभाव जो सो है आतम भाव।
आत्मभाव जाने बिना नहि आवे निज दाव ॥ ७ ॥

ठीक दाव आये बिना होय न निज का लाभ।
केवल पांसा फैंकते नहिं पौ बारह लाभ ॥ ८ ॥

जिसने छोड़ा आपको वह जग में मति हीन।
घर घर मांगे भीख को बोल वचन अति दीन ॥ ९ ॥

आत्म ज्ञान पाये बिना भ्रमत सकल संसार।
इसके होते ही तरे भव दुख पारावार ॥१०॥

जो कुछ चाहो आत्मा! सर्व सुलभ जग बीच।
स्वर्ग नरक सब मिलत है भावहिं ऊँचरु नीच ॥११॥

आज घड़ी दिन शुभ भई पायो निज गुण धाम।
मनकी चिन्ता मिट गई घटहिं विराजे राम ॥१२॥

ज्ञान—

ज्ञान बराबर तप नहीं जो होवे निर्दोष।
नहीं ढोल की पोल है पड़े रहो दुख कोष ॥१३॥

जो सुजान जाने नहीं आपा पर का भेद।
ज्ञान न उसका कर सके भव वन का विच्छेद ॥१४॥

सर्व द्रव्य निज भाव में रमते एकहि रूप।
यही तत्त्व प्रसाद से जीव होत शिव भूप ॥१५॥

भेद ज्ञान महिमा अगम वचन गम्य नहिं होय।
दूध स्वाद आवे नहीं पीते मीठा तोय ॥१६॥

दृढ़ता और सदाचार—

दृढ़ता को धारण करहु तज दो खोटी चाल।
बिना नाम भगवान के काटो भव का जाल ॥१७॥

सुख की कुञ्जी—

जग में जो चाहो भला तजो आदतें चार।
हिंसा चोरी झूठ पुन और पराई नार ॥१८॥

जो सुख चाहत हो जिया! तज दो बातें चार।
पर नारी पर चूगली परधन और लबार ॥१९॥

गरीबी—

दीन लखे सुख सबन को दीनहिं लखे न कोय।
भली विचारे दीनता नर हु देवता होय ॥२०॥

आपत्ति—

विपति भली ही मानिये भले दुखी हो गात।
धैर्य्य धर्म तिय मित्र ये चारउ परखे जात ॥२१॥

नम्रता—

ऊँचे पानी न टिके नीचे ही ठहराय।
नीचे हो जी भर पिये ऊँचा प्यासा जाय ॥२२॥

भूलने योग्य भूल—

भव बन्धन का मूल है अपनी ही वह भूल।
याके जाते ही मिटे सभी जगत का शूल ॥२३॥

हम चाहत सब इष्ट हो उदय करत कछु और।
चाहत हैं स्वातन्त्र्य को परे पराई पौर ॥२४॥

सङ्कोच—

हां में हां न मिलाइये कीजे तत्त्व विचार।
एकाकी लख आत्मा हो जावो भव पार ॥२५॥

इष्ट मित्र संकोच वश करो न सत्पथ घात।
नहिं तो वसु नृपसी दशा अन्तिम होगी तात ॥२६॥

परपदार्थ—

जो चाहत निज वस्तु तुम परको तजहु सुजान।
पर पदार्थ संसर्ग से कभी न हो कल्याण ॥२७॥

हितकारी निज वस्तु है पर से वह नहिं होय।
पर की ममता मेंटकर लीन निजातम होय ॥२८॥

उपादान निज आत्मा अन्य सर्व परिहार।
स्वात्म रसिक बिन होय नहिं नौका भवदधि पार ॥२९॥

जो सुख चाहो आपना तज दे विष की बेल।
पर में निज की कल्पना यही जगत का खेल ॥३०॥

जबतक मन में बसत है पर पदार्थ की चाह।
तबलग दुख संसार में चाहे होवे शाह ॥३१॥

पर परणति पर जानकर आप आप जप जाप।
आप आपको याद कर भव का मेटहु ताप ॥३२॥

पर पदार्थ निज मानकर करते निशिदिन पाप।
दुर्गति से डरते नहीं जगत करहिं सन्ताप ॥३३॥

समय गया नहिं कुछ किया नहिं जाना निजसार।
पर परणति में मगन हो सहते दुःख अपार ॥३४॥

पर में आपा मानकर दुखी होत संसार।
ज्यों परछाहीं श्वान लख भोंकत बारम्बार ॥३५॥

यह संसार महा प्रबल या में वैरी दोय।
पर में आपा कल्पना आप रूप निज खोय ॥३६॥

जो सुख चाहत हो सदा त्यागो पर अभिमान।
आप वस्तु में रम रहो शिव मग सुख की खान ॥३७॥

आज काल कर जग मुवा किया न आतम काज।
पर पदार्थ को ग्रहण कर भई न नेकहु लाज ॥३८॥

जिन को चाहत तूं सदा वह नहिं तेरा होय।
स्वार्थ सधे पर किसी की बात न पूँछे कोय ॥३९॥

परसङ्गति—

सब से सुखिया जगत में होता है वह जीव ।
जो पर सङ्गति परिहरहि ध्यावे आतम सदीव ॥४०॥

जो परसङ्गति को करहि वह मोही जग बीच ।
आतम अन्य न जानके डोलत है दुठ नीच ॥ ४१ ॥

परका नेहा छोड़ दो जो चाहो सुख रीति ।
यही दुःख का मूल है कहती यह सद् नीति ॥४२॥

जो सुख चाहो जीव तुम तज दो पर का संग ।
नहिं तो फिर पछतावगे होय रंग में भंग ॥४३॥

छोड़ो पर की संगति शोधो निज परिणाम ।
ऐसी ही करनी किये पावहुगे निजधाम ॥४ ॥

अन्य समागम दुखद है या में शंसय नहिं ।
कमल समागम के किये भ्रमर प्राण नश जाहिं ॥४५॥

राग—

भवदधि कारण राग है ताहि मित्र ! निरवार ।
या विन सब करनी किये अन्त न हो संसार ॥४६॥

राग द्वेष मय आत्मा धारत है बहु वेष ।
तिन में निजको मानकर सहता दुःख अशेष ॥४७॥

जग में वैरी दोय हैं एक राग अरु दोष ।
इनही के व्यापार तें नहिं मिलता सन्तोष ॥४८॥

मोह—

आदि अन्त बिन बोध युत मोह सहित दुःख रूप ।
मोह नाश कर हो गया निर्मल शिवका भूप ॥४९॥

किसको अन्धा नहिं किया मोह जगत के बीच ।
किसे नचाया नाच नहिं कामदेव दुठ नीच ॥५०॥

जग में साथी दोय हैं आतम अरु परमात्म ।
और कल्पना है सभी मोह जनक तादात्म ॥५१॥

एकोऽहं की रटन से एक होय नहिं भाव ।
मोह भाव के नाश से रहे न दूजा भाव ॥५२॥

मङ्गल मय मूरति नहीं जड़ मन्दिर के माँहिं ।
मोही जीवों की समझ जानत नहिं घट मांहि ॥५३॥

परिग्रह—

परिग्रह दुख की खान है चैन न इसमें लेश ।
इसके वश में हैं सभी ब्रह्मा विष्णु महेश ॥५४॥

रोकड़ (पूँजी)—

जो रोकड़ के मोह वश तजता नाहीं पाप ।
सो पावहि अपकीर्ति जग चाह दाह सन्ताप ॥५५॥

रोकड़ ममता छाँडि जिन तज दीना अभिमान ।
कौड़ी नाहीं पास में लोग कहें भगवान ॥५६॥

रोकड़ के चक्कर फँसे नहिं गिनते अपराध।
अखिल जीव का घात कर चाहत हैं निज साध ॥५७॥

रोकड़ से भी प्रेमकर जो चाहत कल्याण।
विष भक्षण से प्रेम कर जिये चहत अनजान ॥५८॥

रोकड़ की चिन्ता किये रोकड़ सम लघु होय।
रोकड़ आते ही दुखी किस विधि रक्षा होय ॥५९॥

आकर जाने से दुखी धिक् यह रोकड़ होय।
फिर भी जो ममता करे वह पग पग धिक् होय ॥६०॥

रोकड़ की चिन्ता किये दुखी सकल संसार।
पर पदार्थ निज मानकर नहिं पावत भव पार ॥६१॥

रोकड़ आपद् मूल है जानत सब संसार।
इतने पर नहिं त्यागते किस विधि उतरें पार ॥६२॥

साधु कहे बेटा! सुनो नहिं धन कीना पार।
अंटी में पैसा धरें क्या उतरोगे पार? ॥६३॥

द्रव्य मोह अच्छा नहीं जानत सकल जहान।
फिर भी पैसा के लिये करत कुकर्म अजान ॥६४॥

जिन रोकड़ चिन्ता तजी जाना आतम भाव।
तिनकी मुद्रा देखकर क्रूर होत सम भाव ॥६५॥

व्यवहार नय से—

रोकड़ बिन नहिं होत है इस जग में निर्वाह।
इसकी सत्ता के बिना होते लोग तबाह ॥६६॥

लोभ—

ज्ञानी तापस शूर कवि कोविद गुण आगार।
केहिके लोभ विडम्बना कीन्ह न इह संसार ॥६७॥

सन्तोषी जीवन—

इक रोटी अपनी भली चाहे जैसी होय।
ताजी बासी मुरमुरी रूखी सूखी कोय ॥६८॥

एक वसन तन ढकन को नया पुराना कोय।
एक उसारा रहन को जहां निर्भय रहु सोय ॥६९॥

राजपाट के ठाठ से बढ़कर समझे ताहि।
शीलवान सन्तोष युत जो ज्ञानी जग मांहि ॥७०॥

कुसङ्गति—

मूरख की संगति किये होती गुण की हानि।
ज्यों पावक सङ्गति किये घी की होती हानि ॥७१॥

दुःख शील संसार—

जो जो दुख संसार में भोगे आतम राम।
तिनकी गणना के किये नहिं पावत विश्राम ॥७२॥

सुख की चाह—

सुख चाहत सब जीव हैं देख जगत जंजाल।
ज्ञानी मूर्ख अमीर हो या होवे कंगाल ॥७३॥

भवितव्य—

होत वही जो है सही छोड़ो निज हंकार।
व्यर्थ वाद के किये से नशत ज्ञानभण्डार ॥७४॥

दिव्य सन्देश—

देख दशा संसार की क्यों नहिं चेतत भाय।
आखिर चलना होयगा क्या पण्डित क्या राय ॥७५॥

राम राम के जाप से नहीं राम मय होय।
घट की माया छोड़ते आप राम मय होय ॥७६॥
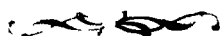
पारिभाषिक शब्दकोष

फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

कल्याण का मार्ग—

उदासीन निमित्त—पृष्ठ क्रमांक २, वाक्य क्रमांक ३, जो कार्य की उत्पत्ति में सहकार करते हैं वे उदासीन निमित्त कहलाते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं। एक वे हैं जो गति, स्थिति, वर्तना और अवगाहन रूप प्रत्येक कार्य के प्रति समान रूप से कारण होते हैं। ऐसे कारण द्रव्य चार हैं—धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, काल द्रव्य और आकाश द्रव्य। इन चारों द्रव्यों के क्रम से गति, स्थिति, वर्तना और अवगाहना ये चार कार्य हैं जो इनके निमित्त से होते हैं। दूसरे वे हैं जो कार्यभेद के अनुसार यथा सम्भव बदलते रहते हैं। यथा—घटोत्पत्ति में कुम्हार निमित्त है और अध्यापन कार्य में अध्यापक निमित्त है आदि। ये दोनों प्रकार के निमित्त उदासीन इसलिये कहलाते हैं कि ये किसी भी कार्य को बलात् उत्पन्न नहीं करते किन्तु कार्य की उत्पत्ति में सहकारमात्र करते हैं।

चरमशरीरादिक—पृ० २, वा० ३, वह अन्तिम शरीर जिससे मुक्ति लाभ होता है। आदि पद से कर्मभूमि आदि का ग्रहण किया है।

कषाय—पृ० २, वा० ६, मुख्य कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ।

जीव—पृ० ३, वा० ८, जिसमें चेतना शक्ति पाई जाती है वह जीव है। चेतना से मुख्यतया ज्ञान, दर्शन लिये गये हैं।

पराधीनता—पृ० ३, वा० ६, जीवन में स्वसे भिन्न पर पदार्थ के आलम्बन की अपेक्षा रहना ही पराधीनता है।

धर्म—पृ० ३, वा० १२ जीवन मे आये हुए विकारों का त्याग करना या स्वभाव की ओर जाना ही धर्म है।

अरिहन्त—पृ० ५, वा० २८, जिसने राग, द्वेष, मोह, अज्ञान और अदर्शन पर विजय प्राप्त कर जीवन्मुक्त दशा प्राप्त कर ली है वे अरिहन्त कहलाते हैं। इन्हें अरहन्त या अर्हन् भी कहते हैं।

वचन योग—पृ० ७, वा० ५३, योग का अर्थ क्रिया है। वचन के निमित्त से आत्म-प्रदेशों मे जो क्रिया होती है उसे वचन योग कहते हैं।

पुद्गल—पृ० ७, वा० ५३, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाला द्रव्य।

बन्ध—पृ० ८, वा० ५३, परपरिणति के निमित्त से जीव के साथ अशुद्ध दशा के कारणभूत कर्मो का संयुक्त होना ही बन्ध है। परपरिणति दो प्रकार की होती है। पर में निजत्व की कल्पना करना प्रथम प्रकार की परपरिणति है और पर मे रागादि भाव करना दूसरे प्रकार की परपरिणति है।

देव—पृ० ८, वा० ५६, जीवन्मुक्त दशा को प्राप्त जीव ही देव हैं।

गुरु—पृ० ८, वा० ५६, जिसने बाह्य परिग्रह और उसकी मूर्च्छा इन दोनों को संसार का कारण जान इनका त्याग कर दिया है और जो स्वावलम्बन पूर्वक अपना जीवन बिताते हैं वे गुरु हैं।

भेदविज्ञान—पृ० ८, वा० ५६, शरीर और उसके कार्यों को जुदा अनुभव करना तथा आत्मा और उसके कार्यो को जुदा अनुभव करना भेदविज्ञान है।

शुभोपयोग—पृ० ८, वा० ५६, देव, गुरु और शास्त्र आदि

स्वातन्त्र्य प्राप्ति के निमित्त हैं इस रागभाव के साथ उनमें चित्त लगाना शुभोपयोग है।

संसार—पृ० ६० वा० ५६, आत्मा की अशुद्ध परिणति का नाम संसार है।

दशधा धर्म—पृ. ६, वा. ६२, क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य।

औदयिक भाव—पृ ६, वा. ६२, पूर्वकृत कर्म के उदय से होनेवाली आत्मा की विकृत परिणति का नाम औदयिक भाव है।

आत्मशक्ति—

दिव्यध्वनि—पृ. ११, वा. २, तीर्थङ्कर का उपदेश।

सम्यग्दर्शन—पृ १२, वा. ६, प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र और परिपूर्ण है इस श्रद्धाके साथ ज्ञान दर्शनस्वभाव आत्मा की स्वतन्त्र सत्ताका अनुभव करना सम्यग्दर्शन है।

काल लब्धि—पृ० १२, वा० ६, लब्धि योग्यताका दूसरा नाम है। जिस समय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है उसे काल-लब्धि कहते हैं। यहां काल उपलक्षण है। इससे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की हेतुभूत अन्य योग्यताएं भी ली गई हैं।

निर्विकल्पक दशा—पृ. १२, वा. ८, रागबुद्धि और द्वेषबुद्धि का नाम विकल्प है जहाँ ऐसा विकल्प न होकर मात्र जानना देखना रह जाता है वह निर्विकल्पक दशा है।

अनन्त ज्ञान—पृ. १३, वा. ११, ज्ञान दो प्रकार का है—अनन्त ज्ञान और सान्त ज्ञान। जो राग, द्वेष और मोह के निमित्त से होनेवाले आवरण के कारण व्यवहित या न्यूनाधिक होता रहता है वह सान्त ज्ञान है। किन्तु जिसके उक्त कारणों के दूर हो जाने पर सतत एक समान ज्ञानकी धारा चालू रहती है वह ज्ञानधारा अनन्त ज्ञान है।

अनन्त सुख—पृ० १३, वा० ११, सुख भी दो प्रकार का है-अनन्त सुख और सान्त सुख। जो सुख पर पदार्थोंके आलम्बनके बिना होता है अतः सर्व काल एक सा बना रहता है वह अनन्त सुख है और इससे भिन्न सान्त सुख है। सान्त सुख सुख नही सुखाभास है।

आत्मनिर्मलता—

गृहस्थावस्था—पृ० १५, वा० १, जो स्वावलम्बन के महत्त्व को जान कर भी कमजोरी वश जीवन में उसे पूरी तरह से उतारने मे असमर्थ है, अतएव घर आदि में राग आदि कर उनका परिग्रह करता है वह गृहस्थ है। ऐसे गृहस्थकी दशा का नाम ही गृहस्थावस्था है।

कर्मशत्रु—पृ० १५, वा० १, कर्म आत्माकी अशुद्ध परिणति मे निमित्त हैं इस लिये उन्हें कर्मशत्रु कहते हैं।

शास्त्र—पृ० १६, वा० २, जिन ग्रन्थों द्वारा स्वातन्त्र्य प्राप्ति की शिक्षा दी जाती है और साथ ही जिनमे संसार और संसार के कारणो का निर्देश किया गया है वे शास्त्र हैं।

समवशरण—पृ० १५, वा० ६, तीर्थकरोंकी सभा।

देव—पृ० १६, वा० ६, योनिविशेष

नारक—पृ० १६, वा० ६, योनिविशेष

मिथ्यात्व—पृ० १७, वा० १४, विपरीत श्रद्धा—घर, स्त्री, पुत्र, धन व शरीरादिमें अपनत्व मानना और आत्माकी स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव नहीं करना।

तिर्यंच . पृ० १७, वा० २३, गाय, हाथी, घोड़ा आदि।

मोक्षपथ—पृ० १७, वा० २३, स्वतन्त्रताका मार्ग। मुक्ति पथ, मोक्षमार्ग व मुक्तिमार्ग इसके पर्यायवाची नाम हैं।

आत्मविश्वास—

अनन्तानन्त—पृ० २२, वा० ६, वह संख्या जो केवल अतीन्द्रिय ज्ञान गम्य है।

कार्मणवर्गणा—पृ० २२, वा० ६, समान शक्तिवाले कर्म परमाणुओं का समुदाय।

रौद्रध्यान—पृ० २२, वा० ६, हिंसा करने, झूठ बोलने, चोरी करने व परिग्रहका संचय करने के तीव्र विचार।

आर्तध्यान—पृ० २२, वा० ६, इष्टका वियोगहोने पर दुखके साथ निरन्तर उसके मिलाने का विचार करना, अनिष्टका सयोग होने पर दुखके साथ निरन्तर उसे दूर करने का विचार करना, शारीरिक व मानसिक पीड़ा होने पर उसे दूर करने के लिये खिन्न खेद होना और भोगों को जुटाने के लिये निरन्तर चिन्तित रहना।

अवधिज्ञान—पृ० २५, वा० १४, मर्यादित रूप से परोक्ष पदार्थ को सामने रखी हुई वस्तु के समान जानना।

मनःपर्ययज्ञान—पृ० २५, वा० १४, दूसरे के मानस को प्रत्यक्ष रूपसे जानना।

केवलज्ञान—पृ० २५, वा० १४, जीवन्मुक्त दशामें प्राप्त होने वाला ज्ञान।

आत्मबल—पृ० २५, वा० १५, अन्य पदार्थ का सहारा लिये बिना जो वीर्य स्वभाव से आत्मा में उत्पन्न होता है वह। इसी का दूसरा नाम अनन्त बल भी है।

मोक्षमार्ग—

परीषह विजयी—पृ० २७, वा० २, स्वेच्छा से भूख, प्यास आदि जन्य बाधा सहते हुए भी बाधा अनुभव नहीं करने वाला।

विभाव—पृ० २७, वा० ५, कर्म के निमित्त से जो भाव आत्मा में होते हैं वे विभाव कहलाते हैं। जैसे, क्रोध, मान और मतिज्ञान आदि।

सम्यग्ज्ञान—पृ० २८, वा० ६, सम्यग्दर्शन पूर्वक होने-वाला ज्ञान।

शुद्धोपयोग—पृ० ३१, वा० ३३, राग, द्वेष रहित ज्ञान व्यापार।

ज्ञान—

क्षयोपशम—पृ० ३६, वा० ६, कर्म के कुछ क्षय व कुछ उप-शम दोनो के मेल से होनेवाला आत्माका भाव।

मूर्च्छा—पृ० ३७, वा० ५, बाह्य पदार्थों मे आसक्तिरूप परिणाम।

निर्जरा—पृ० ३७, वा० ७, कर्मोका एकदेश क्षय।

श्रुतज्ञान—पृ० ३७, वा० ७, मुख्यतया शास्त्र व उपदेश आदि के निमित्त से होनेवाला ज्ञान।

ज्ञानचेतना—पृ० ३८, वा० १६, आत्मा ज्ञान दर्शन स्वभाव है, वह राग-द्वेष से रहित है ऐसा अनुभव मे आना।

चारित्र—

मिथ्या गुणस्थान—पृ० ३६, वा० ३, आत्मा की जिस अवस्था मे विपरीत श्रद्धा रहती है वह मिथ्यात्व गुणस्थान है।

देशसयम—पृ० ३६, वा० ५, हिसा आदि परिणामों का एकदेश त्याग। बाह्य आलम्बन की अपेक्षा इसे अणुव्रत भी कहते है। दूसरा नाम इसका देशचारित्र भी है।

सयम—पृ० ३६, वा० ६, हिसा आदि परिणामों का त्याग।

चरणानुयोग—पृ० ४१, वा० १५, मुख्यतया चारित्र का प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र।

सकलचारित्र—पृ० ४१, वा० १६, हिंसा आदि परिणामों का पूर्ण त्याग। इसे सकल संयम भी कहते हैं।

श्रेणी—पृ० ४६, वा० २३, श्रेणी के दो भेद हैं—उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी। जिस अवस्था में कर्मों का उपशम किया जाता है वह उपशम श्रेणी है और जिस अवस्था में कर्मों का क्षय किया जाता है वह क्षपक श्रेणी है।

आठ प्रवचन मात्रिका—पृ० ४६, वा० २३, ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण और व्युत्सर्ग ये पाँच समितियाँ तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति ये तीन गुप्तियाँ।

पञ्च परमेष्ठी—पृ० ४६, वा० २५, अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु।

व्यवहार धर्म—पृ० ४७, वा० २६, राग, द्वेष की निवृत्ति के बाह्य निमित्तों के आलम्बन से की गई क्रिया।

मानवधर्म—

आत्मोद्धार—पृ० ६३, वा० २, प्रयत्न द्वारा आत्मा को मोह, राग, द्वेष आदि से रहित करना ही आत्मोद्धार है।

चार गति—पृ० ६४, वा० १८, नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति।

मनुष्यायु—पृ० ६५, वा० २१, आयुकर्म का एक भेद जिससे जीव मनुष्य योनि में उत्पन्न होता है।

धर्म—

मोह—पृ० ६७, वा० २, विपरीत श्रद्धा।

क्षोभ—पृ० ६७, वा० २, राग-द्वेषरूप परिणति।

संज्ञी—पृ० ६६, वा० १७, जिनके मन है वे जीव।

असञ्ज्ञी—पृ० ६६, वा० १७, जिनके मन नहीं है वे संसारी जीव।

निर्ग्रन्थ—पृ० ६६, वा० २२, जो स्त्री, धन, घर, वस्त्र आदि बाह्य परिग्रह से रहित हैं और अन्तरङ्ग में जिनके मिथ्यात्व, कषाय आदि रूप परिणति का अभाव हो गया है वे निर्ग्रन्थ हैं।

सुख—

तप—पृ० ७५, वा० २७, चित्तशुद्धि पूर्वक बाह्य आलम्बन का कम करना तप है।

ज्ञानावरण—पृ० ७६, वा० ३६, ज्ञान के प्रकट होने में बाधक कर्म।

शान्ति—

समता—पृ० ७६, वा० १०, आत्मा मे राग-द्वेष रूप परिणति का न होना ही समता है।

पञ्चकल्याणक—पृ० ८३, वा० ३८, तीर्थङ्करों का गर्भ समय का उत्सव, जन्म-समय का उत्सव, दीक्षा-समय का उत्सव, ज्ञान-प्राप्ति-समय का उत्सव और निर्वाण-समय का उत्सव।

षोडश कारण—पृ० ८३, वा० ३८, तीर्थङ्कर होने के सोलह कारण।

अष्टाह्निका व्रत—पृ० ८३, वा० ३८, कार्तिक, फाल्गुन और अषाढ़ के अन्तिम आठ दिनों मे की जानेवाली धार्मिक विधि।

उद्यापन—पृ० ८३, वा० ३८, नैमित्तिक व्रतों की समाप्ति के समय किया जानेवाला धार्मिक उत्सव।

भक्ति—

सामायिक—पृ० ८६, वा० ३, समता परिणामों का नियमित विधि के साथ अभ्यास।

पुरुषार्थ—

सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय—पृ० ६३, वा० १०, जिसके पाँचों

ज्ञानेन्द्रियाँ और मन है वह संज्ञी पञ्चेन्द्रिय कहलाता है।

निराकुलता—

शल्य—पृ० ९९, वा० ३, माया, मिथ्यात्व और निदान ये तीन शल्य हैं।

दान—

द्रव्य-दृष्टि—पृ० १०७, पंक्ति १३, अभेद-दृष्टि।

पर्याय-दृष्टि—पृ० १०७, पंक्ति १५, भेद-दृष्टि।

तीर्थङ्कर—पृ० ११५, पंक्ति २२, धर्म-तीर्थ के प्रधान उपदेष्टा।

स्वोपकार और परोपकार—

निश्चयनय—पृ० १२०, पंक्ति २, मूल पदार्थ की अपेक्षा या अभेद रूप से विचार करनेवाली दृष्टि।

व्यवहारनय—पृ० १२१, पं० ६, निमित्त की अपेक्षा या भेद रूप से विचार करनेवाली दृष्टि।

क्षमा—

चारित्रमोह—पृ० १२७, वा० १, कर्म का अवान्तर भेद जिसके उदय से आत्मा समीचीन चारित्र धारण करने में असमर्थ रहता है।

उपवास—पृ० १३०, वा० ८, दिन में सब प्रकार के भोजन का त्याग।

एकासन—पृ० १३०, वा० ८, दिन में एक बार भोजन।

ब्रह्मचर्य—

इन्द्रिय-संयम—पृ० १४५, वा० १०, पाँच इन्द्रियों को वश मे करना।

कषाय—

मनोयोग—पृ० १६६, वा० १३, मन के निमित्त से आत्मप्रदेशों में क्रिया का होना।

मोह—

यथाख्यात चारित्र—पृ० १७२, वा० २०, रागद्वेष रहित आत्मपरिणति।

स्वात्मानुभूति—पृ० १७२, वा० २०, अपने आत्मा का अनुभव कि मैं ज्ञान दर्शनस्वभाव हूँ ये शरीर, स्त्री, घर आदि मुझसे भिन्न हैं।

दर्शनमोह—पृ० १७२, वा० २१, कर्म का एक अवान्तर भेद जिसके निमित्त से पर पदार्थों में ममकार भाव होता है।

देशव्रती—पृ० १७३, वा० २५, जिसने स्वावलम्बन को एक देश जीवन में उतारना चालू किया है वह।

अव्रती—पृ० १७३, वा० २५, जो स्वावलम्बन के महत्त्व को जान कर भी जीवन में उसे अंशतः या समग्र रूप से उतारने में असमर्थ है वह। जो स्वावलम्बन के महत्त्व को नहीं समझा है वह तो अव्रती है ही।

मोहकर्म—पृ० १७३, वा० २६, कर्म का एक अवान्तर भेद जिससे जीव न तो अपनी स्वतन्त्रता का ही अनुभव करता है और न स्वावलम्बन को जीवन में उतारने में ही समर्थ होता है।

रागद्वेष—

उपशम—पृ० १७४, वा० २, शान्त करना।

अध्यात्मशास्त्र—पृ० १७४, वा० २, जिस शास्त्र में प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता का और उसके गुण धर्मों का स्वतन्त्र भाव से विचार किया गया हो वह अध्यात्म शास्त्र है।

साम्यभाव—पृ० १७४, वा० ३, समता परिणाम जो कि रागद्वेष के अभाव मे होते हैं।

योगशक्ति—पृ० १७४, वा० ५, जिससे आत्मा सकम्प बना रहता है।

स्थिति बन्ध—पृ० १७५, वा० ५, बँधनेवाले कर्मों मे स्थिति का पड़ना स्थितिबन्ध है।

अनुभागबन्ध—पृ० १७५, वा० ५, बँधनेवाले कर्मों में फल-दान शक्ति का पड़ना अनुभागबन्ध है।

द्रव्यकर्म—पृ० १७६, वा० १५, जीव से सम्बद्ध जिन पुद्गल पिण्डों में शुभाशुभ फल देने की शक्ति पड़ जाती है वे द्रव्यकर्म कहलाते हैं।

पर्व के दिन—पृ० १७६, वा० १६, जिन दिनों को धर्मादि कार्यों के लिये विशेप रूप से निश्चित कर लिया है या जिन दिनो मे कोई सास्कृतिक घटना घटी है वे दिन पर्व दिन कहलाते हैं।

मैत्रीभाव—पृ० १७७, वा० २, जैसे हम स्वतन्त्रता के अधिकारी हैं वैसे ही ससार के अन्य जीव भी उसके अधिकारी हैं ऐसा मान कर उनकी उन्नति मे सहायक होना और उनसे संसार वासना की पूर्ति की आशा न रखना ही मैत्री भाव है।

लोभ लालच—

उच्चवश—पृ० १७८, वा० ६, वश का अर्थ है आचारवालों की परम्परा या आचार की परम्परा। इसलिये उच्चवश का अर्थ हुआ उच्च आचारवालों की परम्परा या उच्च आचार की परम्परा।

परिग्रह—

पाँच पाप—पृ० १७६, वा० १, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह।

अहिंसा—पृ० १७६, वा० ३, जीवन में आये हुए विकारों को दूर करना।

सम्प्रदायवादी—पृ० १८०, वा० ४, विवक्षित तत्त्वज्ञान के बहाने कल्पित की गईं रेखाओं को धर्म बतलानेवाले।

तत्त्वदृष्टि—पृ० १८०, वा० ४, वास्तव दृष्टि।

सुधासीकर—

निवृत्तिमार्ग—पृ० १६७, वा० २०, जीवन में आये हुए विकारों के त्याग का मार्ग।

शुद्धोपयोग—पृ० २००, वा० ४२ रागद्वेष रूप प्रवृत्ति से रहित होकर जड़ चेतन प्रत्येक पदार्थ को मात्र जानना शुद्धोपयोग है।

ब्रह्मचर्य—पृ० २०१, वा० ४८, स्त्री मात्र से दूषित चित्तवृत्ति को हटाकर उसे आत्मस्वरूप के चिन्तन में लगाना ब्रह्मचर्य है।

क्षमा—पृ० २०३, वा० ६७, क्रोध का त्याग या अवैरभाव।

मनोनिग्रह—पृ० २०४, वा० ७६, विषयों से हटाकर मनको अपने आधीन कर लेना।

दैनंदिनी के पृष्ठ—

निरीहवृत्ति—पृ० २१५, वा० ६५, सांसारिक अभिलाषाओं के त्याग रूप परिणति।

पर्याय—पृ० २१६, वा० ६५, द्रव्य की अवस्था।

कर्मफल चेतना—पृ० २२, वा० ६६, ज्ञान के सिवा अन्य अनात्मीय कार्यों का अपने को भोक्ता अनुभव करना और तद्रूप हो जाना कर्मफल चेतना है।

कर्मचेतना—पृ० २२१, वा० ६५, ज्ञान के सिवा अपने को अन्य अनात्मीय कार्यों का कर्ता अनुभव करना कर्मचेतना है।

संसार—

अमूर्त—पृ० २२५, पंक्ति ५, रूप, रस, गन्ध आदि पुद्गल-धर्मों से रहित।

मूर्त—पृ० २२५, पंक्ति ६, रूप, रस आदि पुद्गलधर्मवाला।

विजातीय—पृ० २२५, पंक्ति ८, भिन्न-भिन्न जाति के दो द्रव्य।

परमाणु—पृ० २२५, पंक्ति ११, जिसका दूसरा विभाग सम्भव नहीं ऐसा सबसे छोटा अणु।

सजातीय—पृ० २२५, पंक्ति १४, एक जाति के दो द्रव्य।

चार्वाक—पृ० २२५, पंक्ति २०, आत्मा और परलोक को नहीं माननेवाला।

निगोद—पृ० २२६, पंक्ति १६, वनस्पति योनि का अवान्तर भेद। ये एक शरीर के आश्रय से अनन्तानन्त जीव रहते हैं। इनमें से एक के आहार लेने पर सबका आहार हो जाता है। एक के श्वासोच्छ्वास लेने पर सबको श्वासोच्छ्वास का ग्रहण हो जाता है और एक के मरने पर सब मर जाते हैं।

स्पर्शन इन्द्रिय—पृ० २२६, पंक्ति १७, जिससे केवल स्पर्श का ज्ञान होता है।

द्वीन्द्रिय जीव—पृ० २२६, पंक्ति २३, जिसके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ हों।

त्रीन्द्रिय जीव—पृ० २२६, पंक्ति २४, जिसके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ हों।

चतुरिन्द्रिय जीव—पृ० २२६, पंक्ति २४, जिसके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ हों।

असैनी पञ्चेन्द्रिय—पृ० २२७, पंक्ति १, जिसके पाँच इन्द्रियाँ तो हों किन्तु मन न हो।

नैयायिक—पृ० २३२, पंक्ति १५, न्यायदर्शन को माननेवाले।

सर्वार्थसिद्धि—पृ० २३३, पंक्ति १४, देवों का सर्वोत्कृष्ट स्थान।

क्षायिकसम्यक्त्व—पृ० २३६, पंक्ति १४, सम्यग्दर्शन के

प्रतिबन्धक कारणों के सर्वथा अभाव से प्रकट होनेवाला आत्मा का गुण।

भोगभूमि—पृ० २४०, पंक्ति २, जहाँ खेती आदि साधनों की आवश्यकता नहीं पड़ती किन्तु प्रकृति प्रदत्त साधनों से जीवन निर्वाह हो जाता है वह भोगभूमि है।

धर्मादि चार द्रव्य—पृ० २४७, पंक्ति ६, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और काल द्रव्य।

उपयोग स्वभाव—पृ० २४६, पंक्ति ८, ज्ञान-दर्शन स्वभाव।

निश्चय और व्यवहार—

धर्म द्रव्य—पृ० २५१, पंक्ति ४, जो जीव और पुद्गल की गमन क्रिया में सहायक हो।

अधर्म द्रव्य—पृ० २५१, पंक्ति ४, जो जीव और पुद्गल की स्थिति क्रिया में सहायक हो।

आकाश—पृ० २५१, पंक्ति ४, जो सब द्रव्यों को अवकाश दे।

काल—पृ० २५१, पंक्ति ४, जो सब द्रव्यों के परिणमन में सहायक हो।

ग्यारह अङ्ग—पृ० २५३, पंक्ति ३, जैनियों के प्रसिद्ध ग्यारह मूल शास्त्र जिनकी रचना तीर्थङ्करों के प्रधान शिष्य करते हैं।

स्थितीकरण अंग—

अन्तरात्मा—पृ० २७३, पंक्ति १०, जो बाहर की ओर न देखकर भीतर की ओर देखता है। अर्थात् जो आत्मा को शरीरादि से भिन्न अनुभव करता है वह अन्तरात्मा है।

बहिरात्मा—पृ० २७३, पंक्ति १२, जो शरीरादि को ही आत्मा अनुभवता है वह बहिरात्मा है।